पुण्य स्मृतियाँ

भारत की कुछ अमर विभूतियों के पावन चरित्रों पर प्रकाश
डालनेवाले संस्मरणों का संकलन]

■

डा० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा-प्रशंसित

संपादक
प्रेमनारायण टंडन, एम० ए०, सा० र०

■

प्रकाशक
गयाप्रसाद एंड संस
शफाखाना रोड, आगरा

मूल्य १)

जिन विद्वान् लेखकों की अमर कृतियाँ

यहाँ संकलित हैं उन्हीं को

सादर, सविनय

निवेदन

हिंदी में संस्मरण लिखने का चलन पिछले बीस वर्षों में ही हुआ है। पहले पहल राजनीति के क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाले व्यक्तियों के संस्मरण लिखना आरंभ हुआ ; उसके पश्चात प्रसिद्ध विद्वानों और महापुरुषों के। हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय में सब से अधिक कार्य कलकत्ते के 'विशाल-भारत' ने किया है।

संस्मरण लिखने की एक शैली विशेष होती है। लेखक की प्रकृति विनोद की ओर झुकी होनी चाहिये। हास्य और विनोद का मानव जीवन में बड़ा महत्त्व है। संस्मरणों में भी संयत और शिष्ट हास्य का पुट रखना मैं नितांत आवश्यक समझता हूँ। हमारे अधिकांश संस्मरण लेखक इस ओर अधिक ध्यान नहीं देते। उनकी लेखन शैली या तो इतिहास और जीवन-चरित लेखकों की शुष्क और नीरस प्रणाली से मेल खाती है, या अर्थहीन भावुकता प्रधान गद्य-काव्य की रचना-शैली से। संस्मरण-लेखक को सहृदय अवश्य होना चाहिए ; परंतु सहृदयता एक चीज है और भावुकता दूसरी। इसी प्रकार संस्मरण और जीवनी में भी अंतर है। जीवन-चरित में घटनाओं और उनके क्रम-पालन की विवशता उसे वर्णन-प्रधान बना देती है। संस्मरण-लेखक के लिए ऐसा कोई बंधन नहीं है,

वह तो मुक्तक काव्य के रचयिता की तरह मनोहर और प्रभावोत्पादक घटनाओं में से भी कुछ अद्भुत सुंदर का चयन करने के लिए स्वतन्त्र रहता है।

प्रस्तुत पुस्तक में विभिन्न शैलियों के संस्मरणात्मक निबंधों का संकलन किया गया है। इनके लेखक, मुझे छोड़कर, सभी साहित्य-क्षेत्र में सम्मान प्राप्त व्यक्ति हैं। जिन व्यक्तियों के संस्मरण लिखे गए हैं, वे भी साहित्य, राजनीति, इतिहास, धर्म, समाज आदि प्रमुख क्षेत्रों में अपने स्मरणीय कार्यों द्वारा विख्यात हो चुके हैं। साथ साथ इस बात का भी पूर्ण ध्यान रक्खा गया है कि प्रस्तुत पुस्तक से हमारे पाठकों का मनोरंजन तो हो ही, उन्हें कुछ शिक्षा भी मिले। इसी से कुछ निबंधों के आलोचना-प्रधान स्थल छोड़ भी दिए गए हैं।

संकलन को विद्यार्थियों के लिए सब प्रकार से उपयोगी बनाने में जो परिश्रम किया गया है, उसके संबंध में केवल इतना ही संकेत करना यथेष्ट है कि मूल लेख यदि ज्यों के त्यों दे दिए गए होते तो पुस्तक लगभग दुगुनी हो जाती। २०० पृष्ठ भी कम किए गए थे केवल इसीलिए कि किसी प्रकार की अवांछनीय बातें इस संकलन में न आने पाएँ।

लेखों की भाषा में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है—केवल अँगरेजी के वाक्यों, वाक्यांशों या शब्दों का अर्थ अथवा भावार्थ-मात्र सर्वत्र दे दिया गया है। यों लेखकों के भाव की सर्वत्र रक्षा की गई है।

किसी व्यक्ति के जीवन काल में उसके संस्मरण लिखने का प्रधान उद्देश्य उसके आचरण की महत्ता से सर्वसाधारण को परिचित कराना होता है। किसी महापुरुष की मृत्यु के बाद उसके संस्मरण जनता को उसके महत्त्व से परिचित कराने के साथ उसके प्रति अपने आंतरिक उद्गार व्यक्त और अपने शोक-संतप्त हृदय का भार हलका करने के उद्देश्य से लिखे जाते हैं। संस्मरण लिखने के पश्चात् लेखक जो एक प्रकार की शांति का अनुभव करता है, उसका कारण

यही है। मुझे विश्वास है कि हमारे विद्वान् लेखकों को श्रद्धांजलि रूप में चढ़ाए इन सुमनों को इस माला में गूँथते देखकर संतोष ही होगा।

इन लेखों के प्रकाशन की जिन विद्वान् लेखकों और संपादकों ने अनुमति देने की कृपा की है, उनका मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। एक-दो लेख बिना अनुमति लिए ही उद्धृत कर लिए गए हैं। संपादक उन विद्वान् और सुयोग्य लेखकों के प्रति क्षमा-प्रार्थी है।

पुस्तक में लेख अकारक्रम से दिए गए हैं। अपने-अपने क्षेत्रों में सर्वमान्य व्यक्तियों को प्रसिद्धि अथवा महत्व के विचार से आगे-पीछे रखना, मेरी समझ में, भूल ही है।

सन् १९३६-३७ में 'द्विवेदी मीमांसा' के लिए सामग्री संकलन के उद्देश्य से मुझे 'विशाल भारत' की फाइल देखनी पड़ी थी। उसमें प्रकाशित अनेक महापुरुषों के संस्मरण देखकर उसी समय मेरे मन में 'साहित्यिकों के संस्मरण' नामक एक संकलन तैयार करने का विचार हुआ था। थोड़ा बहुत काम मैंने इसके लिए किया भी। पश्चात्, अनेक कारणों से उस समय यह कार्य स्थगित कर देना पड़ा। इधर मुझे अवकाश था। इसलिए तब की इच्छा कार्यरूप में परिणत हो सकी। मुझे विश्वास है, यह संकलन केवल विद्यार्थियों के ही नहीं, प्रत्युत अन्य सहृदय व्यक्तियों के लिए भी मनोरंजक सिद्ध होगा।

दीपावली संवत् १९९९
रानीकटरा, लखनऊ

—प्रेमनारायण टंडन

विषय-सूची

लेख — लेखक

पुण्य स्मृतियाँ

पं० गणेशशंकर विद्यार्थी

सन् १९२५ का साल था। उस समय मैं काशी-विद्यापीठ के द्वितीय वर्ष में पढ़ता था। उसी साल कानपुर में राष्ट्रीय महासभा काँग्रेस का ४० वाँ अधिवेशन भारत-कोकिला श्रीमती सरोजनी नायडू की अध्यक्षता में होने जा रहा था। इसी संबंध में श्रद्धेय विद्यार्थीजी काशी पहुँचे हुए थे। तभी मुझे उनके प्रथम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ऐसे तो श्रद्धेय विद्यार्थीजी और उनके द्वारा प्रवर्तित 'प्रताप' की सुकीर्ति कई साल पहले सुन रक्खी थी। उस दिन जब वे कार्यवश काशी पहुँचे, सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। सोचा, आज चिरवांछित इच्छा पूरी होगी। उस महान् तपस्वी और तेजस्वी के दर्शन होंगे, जिसने त्याग की भस्म रमाकर, देश-सेवा के कठोर व्रत को धारण कर, अपने पवित्र जीवन और उच्च विचार से देश में एक अनुपम आलोक फैला रक्खा है; देश की युवक-आत्मा में नूतन भाव और नवीन जीवन का संचार

कर रक्खा है। काशी पहुँचने पर तो विद्यार्थीजी के दर्शन की उत्सुकता और भी बढ़ गई थी। वह दिन-भर अपने कार्य में व्यस्त रहे। शाम हुई। चिराग की बेला विद्यापीठ के हम विद्यार्थियों की गोष्ठी हुई कि अपने मध्य में श्रद्धेय विद्यार्थीजी को आमंत्रित कर उनके वचनामृत से हम लोग कुछ लाभ उठाएँ। वे बुलाये गए। हम विद्यार्थियों के निमंत्रण को झट स्वीकार कर, हम लोगों के मध्य में, दरी पर, आकाश-चँदोवे के नीचे, वे आ बिराजे। ओह! कितनी निरभिमानता थी! उनके हृदय में कितना युवक-प्रेम था! युवकों के निमंत्रण को झट स्वीकार कर उनके मध्य आ जाना, उनकी महानता का प्रथम परिचय था। सचमुच महापुरुष के पग-पग में उसकी महानता छिपी हुई होती है। उसके एक-एक कार्य से उसकी मनस्विता और महानता स्वभावतः टपक पड़ती है। हम लोगों के मध्य में उनका आ जाना तो मुझे ऐसा भासित हुआ कि हमारे बीच में सादगी और उच्च विचार मूर्तिमान होकर आ गया है।

आज भी विद्यार्थीजी की वह दिव्य और तेजस्वी मूर्ति हृदय में अंकित है। सिर्फ एक खादी की बँगलानुमा धोती, कुर्ता और गाँधी टोपी पहने वे हम लोगों के मध्य में विराज रहे थे। कोई अपरिचित आदमी नहीं कह सकता था कि इस सादी वेश-भूषा के अंदर एक अनमोल मानवता छिपी हुई है; इस दुबले-पतले शरीर में एक तेजस्वी और दिव्य आत्मा अंतर्निहित है। उनके चिरवांछित दर्शन से हृदय भीतर-ही-भीतर आप्यायित हो रहा था। दर्शन हुआ। अब उनकी अमृत-वाणी सुनने की उत्सुकता हो रही थी। विद्यार्थियों की ओर से बहुत अनुनय और नम्रता के साथ उनसे निवेदन किया गया कि आप अपने ज्ञानामृत से हम लोगों को तृप्त करें। इस पर वह मुस्करा उठे, और विद्यार्थियों की नम्रता को भी मात कर देनेवाले शब्दों में बोले—"मैंने तो कोई

उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं की है। कॉलेज की शिक्षा से बिलकुल कोरा हूँ। सिर्फ मैट्रिक तक शिक्षा पाई है। चार-पाँच महीने तक कॉलेज का मुख देखा है। आप लोग उच्च शिक्षा पा रहे हैं, कॉलेज के विद्यार्थी हैं, प्रकांड विद्वानों के समागम और साहचर्य में रहते हैं। मुझ-जैसा एक तुच्छ व्यक्ति आपको क्या कह सकता है। हाँ, मित्रभाव से आप जो कुछ पूछें, अपने अनुभव और जानकारी के अनुसार कहने की कोशिश करूँगा।" इन शब्दों में कितनी निरभिमानता और समानता का भाव छिपा हुआ है। वास्तव में विद्वान समदर्शी होते हैं। श्रद्धेय विद्यार्थीजी के अंदर इस साम्य-भाव का साक्षात् दर्शन हो रहा था। तत्पश्चात् विद्यार्थियों की ओर से राजनीतिक और समाज-संबंधी कई प्रश्न पूछे गए। विद्यार्थीजी ने उन प्रश्नों का बहुत ही विद्वत्ता-पूर्ण, समीचीन, उपयुक्त, युक्ति-पूर्ण तथा अनुभव-जन्य उत्तर दिया। विद्यार्थीगण बहुत तृप्त और संतुष्ट हुए। सभी विषयों का कितना गहरा ज्ञान और अनुभव था! कार्य और सतत मनन, मनुष्य के ज्ञान की परिधि को कितना बड़ा बना देता है, इसका साक्षात् परिचय मिला। जिस समय विद्यार्थीजी बोल रहे थे, ऐसा मालूम होता था, कोई दिव्य-आत्मा दिव्य-संदेश सुना रही है। एक-एक शब्द हृदय के अंतरतम प्रदेश से निकल रहा था; इसलिए एक-एक शब्द अनुभव, ज्ञान एवं आकर्षण से भरा हुआ था। विद्यार्थियों ने उनके ज्ञान-पूत एक-एक शब्द को मन्त्र-मुग्ध की तरह सुना और तृप्त हुए। जिन विद्यार्थियों के हृदय में ऊँची डिगरी का जरा भी मोह रहा होगा, जिनके दिल में यह बात समाई होगी कि बड़ी-बड़ी डिगरियों में ही ज्ञान भरा पड़ा है, उनका मोह और भ्रम कतई दूर हो गया होगा। वे समझ गए होंगे कि ज्ञान का निवास वस्तुतः ऊँची-ऊँची डिगरियों में नहीं, कॉलेज और विश्व-विद्यालयों की शिक्षा में नहीं, वरन् कार्यशील एवं कर्मण्य जीवन में निहित है।

द्वितीय दर्शन

दूसरी बार श्रद्धेय विद्यार्थीजी के दर्शन का अवसर कानपुर में हुआ। कॉंग्रेस-अधिवेशन (सन् १९२५ में) को प्रारंभ होने में तब सिर्फ एक महीना बाकी रह गया था। कानपुर से कुछ कार्यकर्त्ताओं की माँग काशी-विद्यापीठ से की गई थी। इस पर कॉंग्रेस अधिवेशन के प्रारंभ होने के करीब २४-२५ दिन पहले विद्यापीठ की ओर से करीब तीस कार्यकर्त्ता भेजे गए थे। इनमें से मैं भी एक था। अधिवेशन प्रारंभ होने के दो-तीन दिन पहले विद्यार्थीजी सपरिवार खीमे में आकर रहने लगे थे। अब तो बराबर उनके दर्शन होने लगे। परिचय तो था नहीं कि उनसे बातें करके उनके वचनामृत से कुछ लाभ उठाता। बड़े आदमियों से एकाएक मिलना भी बड़ा कठिन होता है। यद्यपि विद्यार्थीजी का हृदय सब के लिए खुला था, सब के प्रति उनके हृदय में समान स्नेह था, सब के साथ वह आत्मीयता का अनुभव करते थे, फिर भी उनसे बातें करने का साहस नहीं होता था। उनके दर्शन से ही सिर्फ अपने को तृप्त कर लेता था। उनका भाषण सुनने की बड़ी लालसा लगी हुई थी। सुना था कि उनकी लेखनी में जितनी शक्ति है, जितना ओज है, उनकी वाणी में भी वैसा ही, वरन् उससे भी बढ़कर ओज और शक्ति है। अधिवेशन के अंतिम दिन उनका भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सुनकर हृदय मुग्ध और बाग-बाग हो गया। बोलते क्या थे, हृदय निकालकर रख देते थे। जो कुछ कहते थे, उसमें हृदय की शुद्धतम आवाज होती थी। वाणी में बड़ी शक्ति और ओज था। कानपुर-अधिवेशन को सफल बनाने में उन्हें कैसी-कैसी कठिनाइयों, विघ्नों और बाधाओं का सामना करना पड़ा, इसका वह सजीव और हृदयहारी भाषा में चित्र-सा खींच रहे थे। उस दिन उनके भाषण की खूबी

का पता चला। किसी विषय का अपनी अद्भुत वर्णन-शैली-द्वारा चित्र-सा खींच देना, उनके भाषण का सब से बड़ा गुण और विशेषता थी। उनकी वाणी में लोगों को प्रभावित कर देने की, उनमें नवजीवन संचार कर देने की, बड़ी शक्ति थी।

उसी समय देखा, कानपुर के लोगों के, कानपुर की जनता के वे कितने प्यारे थे। कानपुर के युवक उन पर कितने बलिहारी थे, कानपुर के मजदूर उनको किस तरह देवता-स्वरूप मानते थे, और इसके साथ ही कानपुर के अधिकारियों पर उनका कितना प्रभाव और दबदबा था। कानपुर के वह केंद्रीभूत शक्ति मालूम होते थे। ज्ञात होता था कि कानपुर का समस्त राजनीतिक, सामाजिक आदि कार्य इन्हीं की शक्ति, इन्हीं की अंतःप्रेरणा से संचालित होता है। वस्तुतः वे वैसे थे भी। कानपुर के राजनीतिक और सामाजिक जीवन को उन्होंने ही अपनी कठोर साधना और तपश्चर्या से निर्मित किया था। वे कानपुर की आत्मा थे, पूज्य पं० जवाहरलालजी के शब्दों में वे समूचे कानपुर थे। उन्होंने कानपुर के सर्वतोमुखी जीवन को ऐसा आत्मसात कर लिया था कि सचमुच उनमें और कानपुर में कोई अंतर नहीं था। आज उनके बिना कानपुर अनाथ है, निष्प्राण-सा हो गया है। अपने हृदय-सम्राट् और बेताज के बादशाह को खोकर कानपुर की ऐसी हालत हो जाय, तो आश्चर्य ही क्या?

तृतीय दर्शन

जिसकी जैसी भावना होती है, उसी रूप में उसकी भावना सिद्ध होती है। मेरे हृदय में श्रद्धेय विद्यार्थीजी के संपर्क और साहचर्य प्राप्त करने की बहुत दिनों से भावना और लालसा समाई हुई थी। पहले तो इस उक्ति पर उतनी आस्था और विश्वास नहीं था; पर श्रद्धेय विद्यार्थीजी के साहचर्य की चिर-संचित भावना

और इच्छा पूरी होते ही इस उक्ति पर विश्वास जमा। वस्तुतः सच्ची भावना में, प्रबल इच्छा में, इतनी शक्ति, इतना बल होता है कि उसकी पूर्ति हुए बिना नहीं रहती। सन १९२९ के मई महीने में 'प्रताप' में एक सहकारी संपादक की आवश्यकता हुई। मैं उस समय खरगपुर राष्ट्रीय विद्यालय (मुंगेर) में शिक्षक का कार्य करता था। शुभ संयोग और अवसर पाकर मैंने एक प्रार्थना-पत्र श्रद्धेय विद्यार्थीजी के नाम भेजा। प्रार्थना-पत्र स्वीकार हुआ। १५ मई १९२९ को १०॥ के करीब मैं कानपुर, 'प्रताप' कार्यालय पहुँचा। श्रद्धेय विद्यार्थीजी अपने ऑफिस में बैठे हुए थे। पहुँचने के ५-७ मिनट बाद भाई देवव्रतजी ने श्रद्धेय विद्यार्थीजी के सामने ले जाकर मुझे पेश कर दिया। मैंने उन्हें प्रणाम किया। हृदय में कुछ भय-सा था कि न जाने क्या पूछेंगे? पर जाते ही उन्होंने अपनी स्वाभाविक मधुरता, स्निग्धता और कोमलता से हृदय के भय को, संशय को दूरकर शीघ्र प्रणाम स्वीकार करते हुए अपनी बगल में रक्खी हुई कुर्सी पर बैठ जाने को कहा। मैं बैठ गया। तत्पश्चात् उन्होंने इस तरह पूछा, जैसे कोई चिर परिचित से पूछ रहा हो—किस ट्रेन से आये, कब चले, क्या बनारस होकर आ रहे हो? उत्तर पाने पर कहा—अच्छा, नहाया-धोया तो न होगा, नहाइए-धोइए। मैं उठकर आया। मनमें कहा—कितनी ऊँची, कितनी महान् आत्मा है, उनमें कितनी सहृदयता और आत्मीयता का भाव है, कितनी दया और उदारता उनके हृदय में भरी हुई है, उनमें कितनी इंसानियत और सौजन्य है! हृदय अधिकाधिक उनकी ओर खिंच गया। उनके सन्निकट, उनके साहचर्य में पहुँच जाने पर हृदय में बड़ी प्रसन्नता हुई। इसके बाद करीब साल-भर तक उनके सन्निकट, उनके पवित्र और प्रभावशाली साहचर्य में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बहुत सन्निकट से उनके सद्गुणों से परिचित होने का सुअवसर प्राप्त

हुआ। ज्यों-ज्यों उनके गुणों का परिचय होता गया, त्यों-त्यों उनका मूल्य, उनके प्रति आदर और सम्मान मेरे हृदय में अधिकाधिक बढ़ता गया। जो बात पहले सुनता था, वह अब प्रत्यक्ष हो गई।

'प्रताप' के उच्चकोटि का साप्ताहिक-पत्र होने का कारण उनके त्याग के साथ-साथ संपादनकला की उनकी कुशलता भी थी। वह बड़े सिद्धहस्त और कुशल पत्रकार एवं संपादक थे। ऐसे तो उनमें एक-से-एक श्रेष्ठ गुण थे, वे गुणों के आगार थे; पर संपादन-कला तो उनमें एक ईश्वर-प्रदत्त गुण था। अगर कहा जाय कि वह हिंदी-संपादन-कला के आचार्य थे, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। उनके इस ईश्वर-प्रदत्त गुण का परिचय उनके सन्निकट रहने से मिला। अकसर पत्र के प्रधान संपादक अग्रलेख लिख देने तक ही अपना काम तमाम समझ लेते हैं; पर श्रद्धेय विद्यार्थीजी में ऐसी बात नहीं थी। अग्रलेख और नोट तो वे लिखते ही थे; पर साथ-ही-साथ 'प्रताप' में प्रकाशित होनेवाली एक-एक बात पर वे ध्यान रखते थे। कंपोज होने के पहले वे एक-एक बात को देख लेते थे और आवश्यक सुधार भी कर देते थे। कामा और सेमी-कोलन की गलती भी उनके लिए असह्य थी। वे छोटी-से-छोटी गलती भी नहीं देखना चाहते थे। वे किसी भी बात में कोई चीज छूटी हुई पसंद नहीं करते थे।

'प्रताप' को वे जन-साधारण की चीज समझते थे; इसलिए वे 'प्रताप' में सुबोध-से-सुबोध और सरल-से-सरल भाषा परि-मार्जित रूप में देना पसंद करते थे, जिससे साधारण-से-साधारण पाठक भी उसे बखूबी समझ सके। उन्होंने 'प्रताप' का मुख्य उद्देश्य जनता की सेवा, उसका कल्याण और हित बनाया था; इसलिए 'प्रताप' में वैज्ञानिक गूढ़ बातें नहीं, वरन् जनता के हित और कल्याण की बातें रहती थीं। विद्यार्थीजी का ध्यान इस बात पर

भी बहुत रहता था कि कोई भी साप्ताहिक घटना या समाचार 'प्रताप' में देने से छूटने या रहने न पाए। उनकी दृष्टि बड़ी गहन और तीक्ष्ण थी। वह अखबार देखने और पढ़ने के बहुत आदी थे। अगर कहें कि उन्हें अखबार पढ़ने का नशा था, वे अखबार-कीट थे, उन्हें अखबार पढ़ने की लत थी, तो कह सकते हैं। देश क्या, संसार की कोई भी घटना उनकी दृष्टि से बच नहीं पाती थी।

अपने सहकारियों एवं अंदर काम करनेवालों के साथ विद्यार्थीजी का बहुत ही मधुर और आत्मीय-सा संबंध और व्यवहार रहता था। वे अपने परिवार के जैसा सबको मानते थे। उनके सुख और सुविधाओं का बराबर खयाल रखा करते थे। इसका मुझे स्वतः अनुभव है। जब-जब वे 'प्रताप' ऑफिस में आते थे, हम लोगों के भोजन-प्रबंध और रहने-सहने आदि की बात बराबर पूछा करते थे। कोई असुविधा या कष्ट देखते, तो तुरंत ही दूर करवा देते थे। हम लोगों की असुविधा और तकलीफ वे बरदाश्त नहीं कर सकते थे। उनके मधुर और आत्मीय व्यवहार की वजह से हम लोगों ने कभी परायेपन का अनुभव नहीं किया। वे परायापन जानते ही नहीं थे। यह मेरा है और यह दूसरे का, यह भाव तो उनमें छू तक नहीं गया था।

श्रद्धेय विद्यार्थीजी ने अपने जीवन में इस बात की सचाई का अनुभव किया था कि भारत का सच्चा निवास देहातों में है। देश की सच्ची आत्मा, मुल्क का प्राण, ग्राम की झोपड़ियों में निवास करता है; इसलिए किसान और मजदूरों की सेवा को अपने जीवन का प्रधान कार्य बनाते हुए उन्होंने देहातों को भी अपना कार्य-क्षेत्र बनाया था। किसानों की सेवा के लिए सन् २६ में कानपुर से कुछ दूर नरवल ग्राम में उन्होंने एक सेवा-आश्रम की

की स्थापना की थी, जिसका उद्देश्य है सेवा और प्रेमभाव-द्वारा ग्राम-संगठन का कार्य करना। वह सेवा-आश्रम उनकी पुण्य-स्मृति के रूप में आज भी कायम है, और किसानों की निष्काम सेवा कर रहा है। श्रद्धेय विद्यार्थीजी के पुण्य-प्रताप से बीसों निष्कामी कार्यकर्ता उस आश्रम-द्वारा ग्रामीणों की अनवरत सेवा कर रहे हैं।

मजदूर भी विद्यार्थीजी के कम ऋणी नहीं हैं। कानपुर के ४० हजार मजदूर तो उन्हें अपना देवता समझते थे, जिनके दुःख के प्रतिकारार्थ विद्यार्थीजी चौबीसों घंटे तैयार रहते थे, और ज्यों-ही मजदूरों के दुःख की बात कान में पड़ते ही वे तन-मन-धन से उसके परित्राण के लिए दौड़ पड़ते थे। मिल-मालिकों का मजदूरों पर अत्याचार उन्हें तनिक भी बर्दाश्त नहीं होता था। विद्यार्थीजी के रहते कानपुर के मजदूरों को बहुत भरोसा था। वे समझते थे कि हम लोगों के दुःख का भी निराकरण करनेवाला एक त्राता मौजूद है।

विद्यार्थीजी के परोपकार का दायरा किसान और मजदूरों तक ही सीमित नहीं था, वे तो परोपकार की मूर्ति थे। करुणा और प्रेम की अजस्र धारा उनके पवित्र हृदय में बराबर प्रवाहित होती रहती थी। कोई भी दीन-दुःखी, निराश्रित और असहाय उनकी शरण में आकर निराश नहीं लौटता था। सब को विद्यार्थीजी उचित सहायता देकर विदा करते थे। आर्थिक अवस्था खराब होते हुए भी उनकी दानशीलता में कभी कमी नहीं आती थी। परोपकार के लिए तो वे सदा मुक्तहस्त थे। उनकी दानशीलता इतनी प्रसिद्ध थी कि अगर कोई भी असहाय, निराश्रित बाहर से कानपुर आ जाता था, तो कहीं आश्रय न मिलने पर, वह विद्यार्थीजी के आश्रय में चला आता था।

स्कूल और कॉलेज के असहाय और गरीब विद्यार्थी भी बराबर

विद्यार्थीजी की सहायता से वंचित नहीं थे। बहुत-से विद्यार्थियों को वे छात्रवृत्ति के रूप में सहायता प्रदान किया करते थे। मौके-मौके पर यों भी वे एकमुश्त विद्यार्थियों की आर्थिक सहायता कर दिया करते थे।

काँग्रेस के गरीब कार्यकर्त्ताओं की वे बराबर आर्थिक सहायता करते थे। जब कोई गरीब कार्यकर्त्ता जेल चला जाता था, तो वे उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए बराबर सहायता भेजा करते थे। क्रांतिकारियों की कार्य-प्रणाली से सर्वथा असहमत रहते हुए भी उनके जेल चले जाने, या फाँसी पर लटक जाने पर वे आवश्यकता समझकर उनके परिवार की बराबर आर्थिक सहायता किया करते थे। मैंने अपनी आँखों से देखा था, कि जेल गए हुए कार्य-कर्त्ताओं तथा क्रांतिकारियों के परिवार के भरण-पोषण के लिए वे बराबर कपड़े और रुपए आदि भेजा करते थे। इधर एक साल हुआ, गरीब काँग्रेस कार्यकर्त्ताओं के जेल चले जाने पर उनके परिवार की उचित सहायता के लिए उन्होंने एक 'कार्यकर्त्ता-परिवार-सहायक कोष' खोल रक्खा था।

विद्यार्थीजी बहुत ही धार्मिक आदमी थे। ईश्वर पर उन्हें पूरी आस्था थी। सदाचार को वे जीवन में सबसे ऊँचा स्थान देते थे। उनका विश्वास था कि सदाचार अथवा शुद्ध चरित्र से ही सब शक्ति प्राप्त होती है। उनके पारिवारिक और सार्वजनिक, दोनों जीवन बहुत ही पवित्र और शुद्ध थे। उनका चरित्र बहुत ऊँचा था। उच्च चरित्र के कारण ही उनमें एक स्वाभाविक आकर्षण था। रामायण और महाभारत उन्हें बहुत पसंद और प्रिय थे। वे अक्सर रामायण और महाभारत पढ़ा करते थे। उनका तो यहाँ तक कहना था कि हिंदी-साहित्य का अगर कोई प्रकृत ज्ञान प्राप्त करना चाहे, तो उसे रामायण और महाभारत अवश्य पढ़ना

चाहिए। बिना रामायण और महाभारत पढ़े हिंदी-साहित्य का ज्ञान अधूरा है। गीता पढ़ते तो मैंने उन्हें कभी नहीं देखा या सुना; पर उनका जीवन गीता के आत्म-तत्त्व और कर्मयोग का सुंदर समन्वय एवं सामंजस्य था।

राग-द्वेष तो उन्हें छू तक नहीं गया था। वे अपनी सत्य-निष्ठा और मनस्विता, उदारता और प्रेम से अपने विरोधियों को भी जीत लेते थे। गीता की अनासक्ति कर्मयोग शिक्षा से तो उनका जीवन ओतप्रोत था। वे कर्मयोगी थे। कर्म उनका जीवन-प्राण था। वे परिस्थिति से बननेवाले आदमी नहीं, परिस्थिति को बनानेवाले आदमी थे। उनके अंदर क्रियात्मक शक्ति थी, जो उन्हें कठोर-से-कठोर कर्मों के लिए भी प्रेरित करती थी। उनका विचार था कि मनुष्य केवल कर्म का अधिकारी है; इसलिए उसे फल की चिंता छोड़कर कर्म करना चाहिए। फल तो परमात्मा के हाथ की चीज है। वे परिस्थिति के आगे हार मानना नहीं जानते थे; बल्कि परिस्थिति ही उनके आगे अपना सिर झुका देती थी। परिस्थिति के आगे झुक जाना या हार मानना वे मनुष्यता के खिलाफ समझते थे।

विद्यार्थीजी महात्मा गाँधी के पूरे भक्त थे और अहिंसा-सिद्धांत पर उनका पूरा विश्वास था; पर वे अहिंसा से भी बढ़कर देश की स्वतंत्रता को समझते थे। देश की स्वतंत्रता के लिए हिंसा को भी वे अनैतिक नहीं समझते थे। देश की वर्त्तमान अवस्था के लिए हिंसा को अनुकूल और आवश्यक नहीं मानते थे। मुझे याद है, कानपुर के तिलक-मैदान में एक बार भाषण देते हुए उन्होंने हिंसा और अहिंसा के संबंध में कहा था—"मैं हिंसा और अहिंसा की बात नहीं जानता, मैं तो देश की स्वतंत्रता चाहता हूँ।" इधर कुछ दिन से वे अहिंसा के पूरे कायल हो गए थे।

अहिंसा पर उन्हें पूरी आस्था और हिंसा से घृणा-सी पैदा हो गई थी। निर्भयता, स्पष्टवादिता, निरभिमानता, न्याय-परायणता, अध्यवसाय, परिश्रमशीलता, उदारता, और कर्मशीलता तो उनके स्वाभाविक गुण थे। उन्होंने अपने त्याग से राष्ट्र की जो सेवा की, राष्ट्र को जितना ऊँचा उठाया, वह भारत के इतिहास में एक अमिट वस्तु है। उन्होंने अपनी एकांत साधना, त्याग और तपस्या से कितने देश-भक्त और राष्ट्रसेवक पैदा किए, इसका अंदाज लगाना कठिन है। वे नवीन भारत के निर्माता थे। भव्य-भारत की नींव डालने वालों में वे एक थे। उनका जीवन महान् था, मृत्यु से भी वे वैसे ही महान् दिखाई पड़े। सचमुच महान् पुरुष की गति भी महान् होती है। उनका जीवन जैसा परोपकारमय था, वह मृत्युपर्यंत वैसा ही बना रहा। परोपकार में, देश-सेवा में तो उन्होंने सर्वस्व अर्पित कर ही दिया था, अंत में प्राण भी न्योछावर कर दिए। "लो, अगर मेरे ही खून से तुम्हारी तृष्णा शांत होती हो, तो लो, यह सिर तुम्हारे सामने है, अपनी तृष्णा शांत करलो।" यह कहते हुए उन्होंने अपने आपको शत्रुओं के अर्पित कर दिया। ओह कैसा महान उत्सर्ग है !! सिवा पहुँचे हुए महान् आत्मा के, ऐसा अनुपम उत्सर्ग कौन कर सकता है ? उनकी अंतिम गति उनकी महानता को और भी प्रदर्शित और प्रकाशित करती है। जैसे वे वीरात्मा थे, उनकी अंतिम गति भी वैसी ही वीरोचित हुई है। ऐसी कर्त्तव्यनिष्ठ और क्षत्रियोचित मृत्यु तो सर्वथा स्पृहणीय है। बड़े भाग्यशाली की ऐसी महान् मृत्यु सौभाग्य से होती है।

—युगलकिशोरसिंह

कुँवर गणेशसिंह भदौरिया

सन् १९२७ के प्रारंभ में 'हिंदू-संसार' कार्यालय दिल्ली में मेरी कुँवर साहब से पहली मुलाकात हुई। लंबा कद, दोहरी देह, गौरवर्ण, भरा और तेजस्वी चेहरा, जिसकी आभा उनकी पवित्र दृष्टि से चू रही थी। उनकी पेटंट पोशाक— टोपी, कोट और धोती को देखकर मैंने समझा कि हैं कुँवर साहब अपनी धुन के पक्के। बातें होने पर उनके अचल विश्वास, विचार-दृढ़ता, ग्राम-जीवन सुलभ सादगी, पर-दुख-कातरता और सबसे जबरदस्त उनके आकर्षक व्यक्तित्व का पता चला।

हमें कुँवर साहब के व्यापारी जीवन पर प्रकाश नहीं डालना है। स्वर्गीय कुँवर साहब के लिए अनेक लोगों को आहें भरते हमने सुना है कि यह कुँवर साहब का ही बूता था कि आगरे की मिलें चलती थीं। उन्हीं के दम से वे आर्थिक झंझावात के प्रकोप से बची थीं। चतुर कप्तान की भाँति वे मिलों के जहाज को उत्ताल तरंगों और चट्टानों से बचाकर खे रहे थे। चीनी, कोयला और फाटके के वे प्रवीण पारखी थे। सैकड़ों मिलें चलती हैं और फेल होती हैं। सैकड़ों व्यापारी लाखों कमाते और खोते हैं; पर कमाने

और संचयवृत्ति को कौन पूछता है ? इन पंक्तियों के लेखक की दृष्टि से कुँवर साहब के ये गुण उनके वास्तविक गुणों—उनके मोहक व्यक्तित्व और विशाल मनुष्यत्व—के सामने एक कण—उनकी असलियत का एक लाखवाँ अंश—भी न थे। उनका व्यापारिक जीवन तो कुहरे के परत के समान था, जो हिमालय की शुभ्र चोटी की छटा को दूर से दर्शकों की नजर से ओझल कर देता है। कलकत्ते के प्रसिद्ध मारवाड़ी सज्जन बाबू महादेव चोखानी के शब्दों में व्यापार में पड़कर कुँवर साहब देश के लिए तो खो गए। चोखानीजी ने ये शब्द कलकत्ते के सनातनी हिंदुओं के नेतृत्व-अभाव पर दुखी होकर कहे थे; क्योंकि कलकत्ते में कुँवर साहब की धाक थी; पर हमारा मतभेद केवल इतना ही है कि कुँवर साहब का व्यक्तित्व और लगन इतनी प्रबल थी कि व्यापार के घोड़े की पीठ पर से कूदकर वे कभी भी नेतृत्व-तुरंग पर बैठ सकते थे, क्योंकि नेतृत्व और संगठन का कोतल घोड़ा उनके साथ ही रहता था।

कुँवर साहब की उन्नति, ख्याति, व्यक्तित्व और जीवन के मूलमंत्र थे—उनका अध्यवसाय, आत्म और चरित्र-बल। कुछ नेताओं, कुछ पत्र-संचालकों और धन पर मान करनेवालों की भाँति वे ऐसे 'साहसी' न थे, जो बहती बयार का साथ देकर अपना उल्लू सीधा किया करते हैं और अपनी असलियत पर काँपते हैं। जरा कुँवर साहब के जीवन के पृष्ठ-भाग पर खयाल कीजिए। गंभीर, निर्मल, अगाध और बरसात में हुँकारती, दरारों को तोड़ती, प्रलयकारी चंबल के तटवर्ती ऊबड़-खाबड़ भयावने कगूरों की कल्पना कीजिए। वहाँ पर कोमल जीवन की कल्पना कठिन है। वहाँ तो पौधे और पशु, स्त्री और पुरुष सभी को—वहाँ के अस्तित्व तक को—अपने अस्तित्व के लिए प्रत्येक पग पर युद्ध करना पड़ता है। उस युद्ध में अनेक तो

भर मिटते हैं, और कोई-कोई तपकर विशाल हो जाते हैं। कमजोरों के लिए वह स्थान नहीं है। कुँवर गणेशसिंह ने अपने पछायँगाँव में बाल्यकाल से ही चंबल के पानी और वहाँ के वातावरण से अपनी माँसपेशियों और रगों में प्रतिकूल परिस्थितियों को परास्त करने की भावना भर ली थी। चंबल और बीहड़ की देवी ने चरित्र-बल और नैष्ठिक प्रवृत्ति की दीक्षा देकर उनसे कहा—'एवमस्तु'। शायद इसीलिए हम कुँवर गणेशसिंह को अपने विद्यार्थी जीवन में सिद्धांत के ऊपर ग्वालियर कॉलेज के प्रिंसिपल से लड़ता पाते हैं। फोर्थ ईयर बी० ए० का समय और श्री गोखले की जीवनी तथा तत्संबंधी कोई पुस्तक कॉलेज-पुस्तकालय से लेने की साधारण-सी बात। उस किताब का जारी करना मना था; पर प्रिंसिपल के एक संबंधी विद्यार्थी ने उसे लिया। कुँवर गणेशसिंह ने भी वह पुस्तक लेनी चाही। औचित्य था विद्यार्थी गणेशसिंह के साथ। मामला बढ़ा और काफी तूल बँधा। अपनी बात रखने और कॉलेज में गड़बड़ी-हड़ताल तक रोकने के खयाल से उन्होंने कॉलेज छोड़ दिया। मेरठ कॉलेज में आकर वे फेल हो गए। जीवन के खयाल से वह फेल होना था। फेल-शुदा युवक ने अपनी किश्ती भाग्य-भरोसे छोड़ दी, लंगर तोड़ दिया और दो रुपए तेरह आने के साथ हवड़ा पुल पास करके अपने को कलकत्ते की चौंधिया देनेवाली विभूति में पाया। केवल पेट पालने का प्रश्न न था, वरन् था पढ़ने का भी। फिर पेट पालने लिए उन दो रुपए तेरह आने में साझी था, निजी नौकर। न कोई परिचय-पत्र और न गाँठ में पैसा, पर सब से बड़ी पूँजी उनके पास थी, दिलो-दिमाग और खून में अदम्य उत्साह और चंबल नदी का नैसर्गिक गुण—अपना मार्ग निकालना। जीवन-युद्ध में जिसके पास ये कारगर हथियार हों, वह विरोध और आपदाओं की किलेबंदी को चकनाचूर कर देता है, और हुआ भी ऐसा ही।

'हिंदी बंगवासी' में रात को लिखने का काम ढूँढ़कर सिगरेट के बल पर रतजगा कर—सिगरेट पीना रात में जगने के लिए उन्होंने सीखा था—पढ़ाई और जीविका चलने लगी। उपजाऊ भूमि में जैसे पौधा दिन-दूना और रात-चौगुना बढ़ता है, वैसे ही कुँवर साहब की छिपी शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ और अपने बाहुबल और चरित्र-बल से उन्होंने 'कलकत्ता-समाचार' को अपने संपा-कत्व में कलकत्ते की सब से जबरदस्त ताकत बना लिया। 'कलकत्ता-समाचार' की उन्नति हुई—किसी प्रपंच और डरा धमका कर रुपए ऐंठने की प्रवृत्ति से नहीं, वरन् कुँवर साहब के चिकना-तीसी व्यक्तित्व, ईमानदारी और पत्रकार-कला-जन्य सूझ से। हिंदी-पत्रकार-कला की पवित्र साँकड़ी पर तेजोमय वीथी में जो पदार्पण करना चाहें, उनसे हमारा आग्रह है कि वे 'कलकत्ता समाचार' द्वारा उठाये गये घी-आंदोलन का अध्ययन करें। कितना जीवट था उस व्यक्ति में, जिसने लाखों की रिश्वत को ठुकराकर मुकदमे और अन्य आतंक की परवा न कर, हुगली के किनारे सैकड़ों धर्म-प्रेमियों को ला बैठाया था। कलकत्ते के किसी भी पत्र में आज इतना दम है, जो सचाई के लिए एक ही बाजी में अपना सर्वस्व लगाने को तैयार हो और जिसकी बात को जनता माने ?

व्यापार में उन्होंने लाख-दो-लाख नहीं कमाया—बेहद कमाया और जैसा कमाया, उसी अनुमान से दान भी किया, कीर्ति-लोलुपता के खयाल से नहीं। उनके सैकड़ों दानों, सहायता और लोक-सेवा के कामों का पता उनके खास भाइयों तक को न होगा। 'भलाई कर कुएँ में डाल' वाली बात के वे कायल थे।

विकट दलदल में पैर रखते ही आदमी उसमें धँसता ही चला जाता है, और फिर व्यापार का दलदल—उसका हम अनुमान ही कर सकते हैं—कितना विकट, पर कितना मोहक है। हाँ, कुँवर

साहब में यह अद्भुत शक्ति अवश्य थी कि वे सिद्ध पुरुष की भाँति व्यापारिक वातावरण से पृथक् भी हो जाते थे और अपने आपको वही प्रौढ़ देहाती समझते थे जैसा उनको चंबल की आत्मादेवी ने बनाया था। पर वह दिन देश के लिए अशुभ ही था—कम-से-कम लेखक की दृष्टि से—जब कुँवर साहब पत्रकार-कला को छोड़कर व्यापार क्षेत्र में आए, क्योंकि व्यापार के कारण ही उन्हें कलकत्ता छोड़ देना पड़ा, आगरा मिल्स का संचालन करना पड़ा और साथ में 'कलकत्ता-समाचार' का अपना खास मोर्चा छोड़कर नए जामे—'हिंदू-संसार'—में दिल्ली जाना पड़ा।

कुँवर साहब के शिष्टाचार के विषय में जो लिखा जाय वह थोड़ा है। जिससे मिलते, उसी के हो रहते थे। उनका कितना ही विरोधी हो और कुछ भी ख्याल करके आया हो, पर उनसे ज़रा बातें हुईं कि पानी-पानी हो गया। वे अजातशत्रु थे। शिष्टाचार और लोकाचार भी कैसा? एक बार इन पंक्तियों के लेखक को उनकी कोठी पर हैजे का प्रचंड-प्रकोप रात के १२ बजे हो गया। तीन-चार घंटे तक तो यही ख्याल रहा कि शरीर को ताजगंज (आगरे का श्मशान) की सैर करनी पड़ेगी और कुँवर साहब को फिजूल की परेशानी होगी। उन दिनों मिल के मुकदमे थे। कुँवर साहब को दम मारने की फुरसत तक न थी। प्रातःकाल पाँच बजे मेरी दशा कुछ आशाजनक प्रतीत हुई तो मैंने गाँव पहुँचने की इच्छा प्रकट की। किसी प्रकार गाँव पहुँचा। दोपहर को कुँवर साहब मोटर से गाँव पहुँचे। बस, दस मिनट रुके और फिर अदालत लौट गये। उस दिन उन्हें भोजन करने का भी समय न मिला था। सिर्फ दो घंटे थे, सो वे दोनों घंटे मेरे यहाँ आने-जाने में लगा दिये।

मेरे यहाँ विवाह-शादी में भी आते थे, पर आने में वे अमीरों

के से चोंचले न करते थे। जिसके यहाँ आते-जाते थे उसकी सुविधा का बेहद ख्याल रखते थे। एक दिन शाम को मैं अपनी कुटिया पर बैठा एक सज्जन से, जो उनके अतिथि रहे थे, बातें कर रहा था। रात के आठ बजे का समय होगा। देखा तो कुँवर साहब की मुस्कराती हुई सूरत सामने खड़ी हो गई। मक्खनपुर स्टेशन से उतरकर अकेले पैदल गाँव चले आए और अगले दिन हम लोग पैदल ही स्टेशन गए। दोनों गणेशों (स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी और स्व० कुँ० गणेशसिंह जी) की ऐसी ही बातें याद करके दिल भर आता है, आँखें छलछला आती हैं और उन महानुभावों की प्रतिमा सामने आ जाती है। इसी प्रकार स्व० गणेशजी गाँव से शिकोहाबाद स्टेशन तक का रास्ता बातों में ही तय कर जाते थे।

× × ×

कुँवर साहब की वह चिंतातुर आकृति मेरे लिए वैसी ही स्पष्ट है, जब मैं कानपुर से स्व० गणेशजी की अस्थियों को अन्य मित्रों के साथ गंगार्पण करके आगरे आकर उनसे मिला था। कोठी के पास जलाशय के निकट अधसुलगी सिगरेट थामे मंद गति से वे टहल रहे थे। देखते ही बोले—"श्रीराम जी! बहुत ही बड़ा आदमी उठ गया। लोग गणेशशंकरजी की क्षति को पूरा महसूस ही नहीं कर रहे हैं। इस प्रांत में मैं यदि किसी का कायल था तो गणेशशंकरजी का।"

कुँवर साहब जैसे परिश्रमशील लोग कम ही होते हैं। वे मशीन की भाँति लगे रहते थे—दो-चार दिन तक या दो-चार मास ही घोर परिश्रम न करते थे। जीवन भर उन्होंने घोर परिश्रम किया। जब एकआध दिन के लिए वे गाँव आते थे, तब कहीं

आराम कर पाते थे। मशीन में तो तेल और पानी की आवश्यकता पड़ती है; पर कुँवर साहब तो पानी और सिगरेट के बल पर ही जुटे रहते थे। दोपहर का खाना ढाई-तीन बजे मध्याह्न को खा पाते और रात का ग्यारह-बारह बजे दूध, चाय व कलेऊ कभी नहीं करते थे। उनमें कुछ दैवी गुण थे। उनकी निद्रा सती साध्वी हिंदू-ललना के समान थी, जो पतिदेव के सम्मुख हाथ जोड़े खड़ी रहती है। दिनभर और रातभर काम किया है। प्रातःकाल दिल्ली या कलकत्ते की यात्रा करनी है तो कोई चिंता नहीं। रेल में बैठे, घड़ी निकाली और एक या दो घंटे का समय मिला तो सो लिए। कोठी पर आकर पंद्रह मिनट मिले तो उसी समय सो लिए। नींद पर उनका इतना अधिकार था कि जब चाहें तब आ जाती थी; पर करते वे अपने ऊपर अत्याचार थे। हृदय-रोग की उन्हें शिकायत हो गई थी। कुँवर साहब का एक दोष यह था कि वे समझते थे कि शरीर से मनमाने ढंग से काम लिया जा सकता है। वे कितने ही व्यस्त हों, कैसी ही चिंताओं और समस्याओं ने इन्हें घेर रक्खा हो, वाह्यरूप से उनके हृदय-सागर के तूफान का पता न चलता था और न वे ही चिंताओं से उत्तेजित होते थे। सागर के गर्भ में तहलका मचा हो; पर ऊपर जहाज मजे में चला करते हैं, वैसे ही व्यापार की घोर झंझटों में होते हुए भी वे दूसरों की बातों को शांतिपूर्वक सुनते थे। दम मारने की फुरसत नहीं है। व्यापार की भी तंगी है। रुपया नहीं मिल रहा है; पर एक दुखी आदमी आता है और कहता है—"कुँवर साहब! आपका नाम सुनकर आया हूँ। लड़की के विवाह को पंद्रह दिन हैं। समाज की व्यवस्था ऐसी है कि बिना दो हजार के काम नहीं चलता। मुँह-चिरा नहीं हूँ; पर आपके दिल में कसक उठती है, इसलिए कहना ही पड़ता है। अब तो प्रबंध कीजिए, नहीं तो यमुनातट पर भूखों जान देनी है। बिना प्रबंध के घर मुँह नहीं दिखा सकता।"

कुँवर साहब ने तब तक भोजन नहीं किया, जब तक उस आदमी के लिए दो हजार का प्रबंध नहीं कर दिया।

एक वकील ने धोखाधड़ी की। कुँवर साहब बिगड़ गए और हाईकोर्ट से वकील साहब का नाम वकीलों के रजिस्टर से कटवा कर मान-मानी वकालत पर रोक लगवा दी। कुछ समय बाद वकील साहब को कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ा। उनकी पुरानी शान में बट्टा लगा, खाने-पीने की तकलीफ हो गई। वकील साहब पश्चात्ताप करने लगे। यह सुनकर कुँवर साहब अपने कट्टर विरोधी उन्हीं वकील साहब के यहाँ खुद गए और कहा—"आप हम से अकड़े थे। हम भी अकड़ गए थे। आपको अपने व्यवहार से दुख है, तो हमें आप पहले का-सा ही दोस्त समझें।" एक गाड़ी कोयला और आटे की बोरियाँ भिजवाईं और साथ ही प्रिवीकौंसिल में अपील करने के लिए रुपया भी दिया। वकील बहाल हो गए। न मालूम कितने दीन-दुखियों की लड़कियों के विवाह कुँवर साहब ने कराए थे। आटा लकड़ी, कपड़ा और कुछ नकद, सभी भेजते थे। अनेक लोगों की सहायता तो मेरे लिखने या कहने से उन्होंने की थी। वे चतुर पारखी थे। उनमें ब्राह्मणों का विद्या-प्रेम, क्षत्रियों का शौर्य और बात पर मर-मिटने की प्रवृत्ति, वैश्यों के व्यापार-कौशल और शूद्रों के सेवा-भाव का विचित्र मिश्रण था। कोई उन्हें ठग न सकता था; दशा जानकर ही वे भरसक सहायता करते थे।

उनकी बातें अद्वितीय ही थीं। सहारनपुर से देहरादून जाना था। पहुँचना लाजिमी था। स्टेशन पर मोटर किराए की करनी चाही। एक मैला-कुचैला-सा मोटर ड्राइवर आया और कहने लगा—"हुजूर आज कोई मजूरी नहीं मिली। शाम को रुपया देना है। मेरी मोटर में चलें तो मेरा भी काम हो जाय।"

मोटर जो देखी, तो सड़ीबुसी-सी। पूछा—"पहुँचा भी दोगे ?"

ड्राइवर के 'हाँ' कहने पर उसी गाड़ी में गए।

पुराने कर्जदार रुपया लाते हैं कलकत्ते से। पंद्रह-बीस वर्ष के शायद बीस-बीस हजार चाहिए थे। अपनी इज्जत रखने के खातिर वे महाशय ऋण चुकाने के लिए कलकत्ते से आगरे आए; पर कुँवर साहब ने यह कहकर लौटा दिया कि अभी नहीं। अपना काम चलाओ, हमारे रुपये की परवाह मत करो।

× × ×

१८ दिसंबर '३४ को मैं लखनऊ से आगरे उन्हें देखने आया। कान की हड्डी में चीरा लगा था, और उससे उन्हें काफी कष्ट हुआ था। इस बात की खबर मुझे १६ दिसंबर को लगी। सीधा उनकी कोठी पर पहुँचा। महीने-डेढ़ महीने की बीमारी के पश्चात् वे अच्छे हो चुके थे। लेटे-लेटे घंटों बातें कीं। मैंने मना भी किया कि आराम कीजिए; पर वे न माने। सिनेमा की गंदगी से लगाकर साहित्य और राजनीति तक पर बातें होने लगीं। चलते समय मैंने शिकायत की कि बीमारी और आपरेशन का समाचार मुझे तो मालूम होना चाहिए था। कहने लगे—"मैंने समझा था कि आपसे किसी ने कह दिया होगा या लिख दिया होगा। मुझे भी आश्चर्य था कि आपका कोई समाचार क्यों नहीं मिला।"

मैंने कहा—वैसे मैं आपसे जनवरी के प्रथम सप्ताह में मिलने वाला था।

कुँवर साहब—क्यों ?

मैं—यह अभी न बताऊँगा। इस समय तो मैं आपका स्वास्थ्य-समाचार लेने आया हूँ।

कुँ० (मुस्कराते हुए)—तो उस समय भी आइए।

तकल्लुफ की कौन-सी बात है। अब तो हम बिल्कुल ठीक हैं। देख ही रहे हैं आप।

मैं—न। ऐसा न होगा। इस समय और कोई बात कहना अशिष्टता होगी।

कुं०—हम लोगों का शिष्टाचार अँग्रेजों का-सा थोड़े ही है। हमारे यहाँ काम पड़े, तो मौत को जगा लेते हैं। खाना खाने में बातें कर लेते हैं।

मजबूर होकर मुझे कहना पड़ा कि जनवरी में एक डेपुटेशन का मुखिया होकर आऊँगा। एक सार्वजनिक काम के लिए आपसे कम-से-कम एक हजार और अधिक-से-अधिक पाँच हजार का प्रस्ताव करना है। इसके बीच आप कोई रकम तय कर लें। दूसरी बात है स्व० गणेशजी के स्मारक के लिए आपसे एक हजार लेना। सुनकर कहने लगे—हमारे हिस्से में जो आयगा, वह मिल जायगा। गणेशजी के स्मारक के लिए एक हजार और उसके लिए तीन हजार देने का वादा किया।

फिर दस दिन पीछे लखनऊ में हृदय-विदारक समाचार मिला कि हृदय-रोग से कुँवर साहब का देहावसान हो गया। अभी वे चवालीस के ही थे। सुनकर संज्ञाहीन-सा हो गया। दिल के दुख को आँखों ने बहुत बहाया। करुणा की बातें लिख-लिखकर उनके संबंधियों को और मित्रों को रुलाना नहीं चाहता। काफी रो लिए हैं, और उनकी याद में जन्म भर रोना ही है। मर्सिया-ख्वानी नहीं करनी; इसलिए अंत में यही लिखना है कि कुँवर साहब उन महान व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने मध्यकालीन इतिहास में अपने बाहुबल और बुद्धिबल से समृद्धिशाली राज्य कायम किए थे। अंत समय तक उनमें सार्वजनिक जीवन की प्रबल ज्वाला सुलगती रही। आगरे की गत हड़ताल हिंदू-मुसलिम प्रश्न की

एक जटिल समस्या थी। भारतवर्ष में इतनी लंबी हड़ताल कभी नहीं हुई। हिंदुस्तान के कुछ नामधारी लीडरों ने कोशिश की। तार और प्रस्ताव के गोले भी चले; पर हुआ कुछ भी नहीं। कुँवर साहब ने थोड़े-से ही समय में हिंदू-मुसलमानों में मेल करा दिया और हड़ताल का अंत हो गया। आगरे के लिए उनका वह तीन दिन का सार्वजनिक जीवन बहुत-से लोगों के काम से कहीं अधिक श्रेयस्कर था। बुलबुल की चहक, कोयल की कू-कू और सौरभमय सुमनों की महक जीवनभर काँव-काँव और गंधहीन फूलों की वर्षों की चमक से कहीं अधिक उपादेय है।

× × ×

उस दिन स्व० कुँवर साहब की मातमपुरसी में पछायँ गाँव जाना साधारण-सी बात न थी। पत्थर का कलेजा करके उधर गया। पैर न पड़ते थे। इटावे से लगाकर उनके घर तक की वसुंधरा वैधव्य आकृति से सिर धुन रही थी। ग्वालियर की सड़क उनकी—निजी बनवाई पक्की सड़क—का जर्रा-जर्रा और भदावर के इक्के-दुक्के पेड़ सभी शोक मग्न थे। यह ठीक है कि वे यों ही खड़े थे और यह भावुकता मेरे ही हृदय का प्रतिबिंब थी। होगी; पर मुझे ऐसा ही आभास हुआ। यहाँ तक कि उनके राजसी गृह-भवन के ऊँचे कंगूरे भी उनकी याद में मूक रुदन में खड़े दिखाई दिए। अधिक वहाँ न बैठा गया। तबियत कड़ी करके वापस की और मार्ग भर सोचता आया कि स्व० कुँवर साहब के दोनों भाई राय बहादुर ठाकुर उमासिंह और ठाकुर नारायणसिंह तथा भतीजे कुँवर सुरेंद्रबहादुरसिंह—जिनकी विभूति का प्रत्येक अंश स्व० कुँवर साहब के प्रेम और परिश्रम से ओत-प्रोत है—उनके स्मारक-स्वरूप क्या करेंगे?

हमारा विनीत मत है कि स्मारक के दो रूप हों। एक तो

उनकी जीवनी लिखाई जाय, जो हिंदी-साहित्य की स्थायी चीज़ हो। दूसरा रूप यह है कि एक रकम अथवा साहित्य-वृद्धि के लिए रख देनी चाहिए, जिससे प्रतिवर्ष या प्रति दूसरे वर्ष डेढ़ दो हज़ार की लागत से कोई पुस्तक लिखाई जाय या किसी पुस्तक पर पुरस्कार दिया जाय। यह बात हम इसलिए लिखते हैं कि कुँवर साहब का निधन एक राष्ट्रीय निधन है और उनके सामर्थ्यवान घरवालों के लिए यह काम कठिन नहीं। कुँवर साहब तो चलते-फिरते चले ही गए। मौत का भरोसा नहीं है; पर हमारी आह में तासीर होनी चाहिए और शीघ्र ही इस कार्य को पूरा होना चाहिए, नहीं तो कुँवर साहब की कीर्ति और उनकी प्रत्येक स्मृति चुपचाप यही कहेगी—"वह क्या गए कि दुनिया फिर गई ज़माने की।"

—श्रीराम शर्मा

सी० वाई० चिंतामणि

पिछले बीस वर्षों में इन पंक्तियों के लेखक को न जाने कितनी बार चिंतामणिजी से बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, और 'लीडर' के एक क्षुद्र लेखक की हैसियत से तथा अपने व्यक्तिगत मामलों में भी उनसे कितने ही बार काम पड़ा था ; पर प्रत्येक अवसर पर उन्होंने मुझे हर प्रकार की सहायता ही दी थी। उनके अहसान का मधुर बोझ भारी ही होता गया और प्रथम मिलन के अवसर पर उनकी सहृदयता की जो छाप मेरे हृदय पर पड़ी थी, उसमें निरंतर गंभीरता ही आती गई।

साधारणतः पत्रकारों के जीवन में और खास तौर पर हमारे जैसे मामूली हिंदी-लेखक के जीवन में ऐसे संकटमय दिनों का आना स्वाभाविक ही है, जब सहानुभूति की अत्यंत आवश्यकता होती है और जब एक पैसे का मूल्य एक रुपए से भी अधिक हो जाता है। इन पंक्तियों का लेखक उन दिनों को याद कदापि नहीं भूल सकता, जब 'लीडर' और उसके संपादक मि० चिंतामणि की कृपा से दो ढाई वर्ष तक अनेक प्राणियों का, जिनमें कई अब इस संसार में नहीं हैं, भरण-पोषण हुआ था।

स्वयं अधिक-से-अधिक कष्ट में होते हुए भी वे अपने
र सहयोगियों को नहीं भूले। कुछ वर्ष पहले की
ामणिजी बहुत बीमार थे। दो बार पैर का ऑपरेशन

सी० वाई० चिंतामणि

ा। अत्यंत निर्बल हो गए थे। चलना-फिरना तो
, लिखना-पढ़ना भी बिल्कुल बंद था। जब उन्होंने

गार्हस्थिक दुर्घटना और संकट का वृत्तांत अपने सुपुत्र श्री बालकृष्ण राव से सुना, तो तुरंत पत्र भिजवाया। चिंतामणिजी की उदारता के विषय में वामनजी के ये शब्द अक्षरशः सत्य हैं—अपने छोटों को आगे बढ़ाने तथा प्रोत्साहित करने के लिए श्री चिंतामणिजी जितने उत्सुक रहते हैं, उतना मैंने किसी दूसरे नेता को नहीं देखा।

चिंतामणिजी भारतीय पत्रकारों में अग्रगण्य हैं। यदि हमारे देश के छः सर्वोत्तम पत्रकारों की सूची बनाई जाय, तो उसमें भी चिंतामणिजी का नाम काफी ऊँचा रहेगा। दैनिक पत्र-संपादन वे जिस योग्यता से कर सके, उस योग्यता से शायद ही कोई भारतीय पत्रकार कर सके। फिर भी छोटे-से-छोटे पत्रकार या लेखक से मिलते हुए उन्होंने कभी अपना बड़प्पन नहीं दिखाया। अभी उस दिन कलकत्ते में जब वे मद्रास के लिबरल फेडरेशन से लौटे थे, उन्होंने हमारे एक सजातीय ऐंट्रेंस तक पढ़े हुए विद्यार्थी से कहा—"लेख लिखने का अभ्यास क्यों नहीं करते? डरो मत! कोई मुश्किल बात नहीं है। मेरे पास लिखकर भेज दिया करो। एडीटर के नाम भेजोगे, तो मुझे नहीं मिलेगा, मेरे घर के पते पर भेजना। मैं संशोधन कर दूँगा।" चिंतामणिजी के ये शब्द सुनकर पहले तो मुझे आश्चर्य हुआ, फिर मुझे खयाल आया कि स्वयं चिंतामणिजी को भी विश्व-विद्यालयों की उच्च शिक्षा का सौभाग्य (या दुर्भाग्य) प्राप्त नहीं हुआ था। चिंतामणिजी अपनी गरीबी को नहीं भूले। वे समझते थे कि समय पर कितने ही युवक लेखक बनाए जा सकते हैं।

चिंतामणिजी ने अपने सिद्धांतों के सामने धन, वैभव तथा पद-गौरव की कभी चिंता नहीं की। महात्मा गाँधी से लगाकर भारत के छोटे-बड़े सभी नेता चिंतामणिजी की योग्यता के कायल

रहे हैं। मौलाना मुहम्मदअली ने तो उन्हें 'भारतीय राजनीति का चलता-फिरता विश्वकोष' कहा था। भारतीयों के लिए भारत में जो ओहदे खुले हुए हैं, उनमें शायद ही कोई ऐसा हो, जिस पर बैठकर चिंतामणि उसका गौरव न बढ़ा सकते; पर उन्होंने अपने राजनीतिक सिद्धांतों के सामने इन सब को तुच्छ ही समझा। दुनिया में भेड़ों की संख्या ही अधिक है, और ऐसे आदमी बहुत कम हैं, जो अपनी अंतरात्मा की ध्वनि के अनुसार अपने सिद्धांतों पर अटल रहें और उसके सामने अपनी लोकप्रियता को सर्वथा नगण्य समझें।

हमारे बहुत-से पाठकों को न मालूम होगा कि चिंतामणिजी को क्षय रोग किस प्रकार हुआ था। 'लीडर' का कार्य नकद पाँच हजार रुपए और पचास हजार के वादे से प्रारंभ हुआ था। मि० चिंतामणि और मि० एन० गुप्त 'लीडर' के संयुक्त संपादक बनाए गए। मि० गुप्त तो थोड़े दिन बाद न जाने क्यों छोड़कर चले गए; सारा बोझ आ पड़ा चिंतामणिजी के सर पर। प्रबंध करना, संपादन करना और पूँजी भी जुटाना। उस समय चिंता-मणिजी को चौबीस घंटे में अठारह-अठारह घंटे काम करना पड़ता था। सप्ताह-के-सप्ताह इसी तरह काम करते बीत जाते थे। प्राय: उन्हें ही प्रूफ देखने पड़ते थे, पत्र के लिए रिपोर्टर का काम करना पड़ता था, सहायक संपादक और मैनेजर का काम भी उन्हीं के सुपुर्द था, और अग्रलेख तो वे लिखते ही थे। अक्सर ऐसा मौका आया करता था कि चिंतामणिजी को कंपोज़ीटरों के विभाग में फोरमैनी का काम भी करना पड़ता था। आर्थिक कठिनाइयों का बोझा सिर पर था ही। नतीजा यह हुआ कि चिंतामणिजी का स्वास्थ्य बिल्कुल खराब हो गया, और डाक्टरों ने यह करार दे दिया कि उन्हें क्षय रोग हो गया है। जब चिंता-मणिजी ने छुट्टी माँगी और मालवीयजी को उनकी भयंकर बीमारी

का पता लगा, तो उनकी आँखों में आँसू भर आए और उन्होंने कहा—"अब तो दो ही मार्ग हैं, या तो 'लीडर' का काम कराते-कराते चिंतामणि को मार डालना अथवा उन्हें छुट्टी देकर 'लीडर' की अकाल मृत्यु करना।"

चिंतामणिजी को छुट्टी दे दी गई और वे विजगापट्टम को चले गए। देश का यह सौभाग्य था कि चिंतामणिजी को वहाँ जाकर आराम हो गया, और फिर वे अपने काम पर लौट आए। उस समय 'लीडर' की ग्राहक-संख्या बहुत कम थी, और आर्थिक स्थिति अत्यंत ही खराब। बस, 'लीडर' के दिन गिने जा रहे थे। एक बार तो यहाँ तक निश्चित हो गया कि पंद्रह बीस दिन बाद अमुक तारीख को 'लीडर' बंद कर दिया जायगा और उसका कारबार लखनऊ के बाबू गंगाप्रसाद वर्मा को सौंप दिया जायगा। वे 'लीडर' का नाम अपने पत्र 'एडवोकेट' में सम्मिलित कर लेंगे। सौभाग्य से 'लीडर' को यह दिन देखने का मौका ही नहीं आया।

चिंतामणिजी का सब से सुंदर रूप वह था, जब वे अपनी मित्र-मंडली में बैठे हुए गप्प लड़ाते थे। संभाषण-शक्ति में उनके मुकाबले हिंदुस्तान में शायद ही कोई निकले, यद्यपि उनकी बात-चीत में वह माधुर्य नहीं, जो माननीय श्रीनिवास शास्त्रीजी की बातचीत में है।

एक बार हम अपने सजातीय मित्र के साथ, जो चिंतामणिजी से अच्छी तरह परिचित थे, रेल की यात्रा कर रहे थे। उस समय हमारे साथ श्री के० ईश्वरदत्त की लिखी 'Sparks and Fumes' नामक पुस्तक थी, जिसमें चिंतामणिजी का एक स्केच छपा था। स्केच में एक वाक्य था—'केवल अपनी योग्यता के कारण चिंता-मणिजी जो पहले ३५) महीने पर एक अज्ञात रिपोर्टर थे, एक

दैनिक पत्र के संपादक, एक प्रांत के मंत्री और एक पार्टी के लीडर बन गए।'

चिंतामणिजी का स्केच हम पढ़ ही चुके थे कि छिउँकी स्टेशन आ गया। देखते क्या हैं कि चिंतामणिजी वहाँ विद्यमान हैं। वे बंबई जा रहे थे। हमने उनसे कहा—हम अभी आप ही के संबंध में पढ़ रहे थे। उन्होंने पूछा—आपने क्या पढ़ा? हमारे मित्र ने कहा कि आपने ३५) की नौकरी पहले-पहल की थी। चिंतामणिजी तुरंत बोले—लेखक महाशय ने भूल की है। पैंतीस नहीं, तीस।

स्वर्गीय गोखले की पुण्य तिथि के दिन एक बार वे कलकत्ते में उपस्थित थे। महाराष्ट्र क्लब में उनका भाषण हुआ। उस मीटिंग में डब्ल्यू० सी० बनर्जी के भतीजे भी मौजूद थे। भाषण देते समय भतीजे साहब के मुख से निकल गया कि उनके चचा साहब काँग्रेस के पहले तथा सातवें अधिवेशन के सभापति हुए थे। चिंतामणि ने तुरंत ही बड़े धीरे से कहा—'सातवें नहीं आठवें।'

चिंतामणिजी की आँखों में लिहाज था, और इस लिहाज के कारण उन्हें कभी-कभी ऐसे काम करने पड़ते थे, जिन्हें वे हृदय से नापसंद करते थे। एक बार उन्होंने कहा—"सरकारी नौकरी के लिए सिफारिश करना मुझे सख्त नापसंद है; पर बीसियों आदमियों के लिए सिफारिश करनी पड़ती है।"

एक बार इन पंक्तियों के लेखक के क्षुद्र जीवन में भी ऐसा अवसर आया कि एक नीम सरकारी जगह के लिए अरजी भेजनी पड़ी। चिंतामणिजी एक आदमी की सिफारिश उसी नौकरी के लिए पहले कर चुके थे; पर मेरी चिट्ठी पहुँचते ही उन्होंने इतने जोरदार शब्दों में सिफारिश की चिट्ठी लिखी कि उस चिट्ठी से मुझे जितना संतोष हुआ उतना नौकरी मिलने पर भी न होता।

चिंतामणिजी के राजनीतिक विचारों से भले ही कोई सहमत न हो ; पर इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि चिंतामणिजी के व्यक्तित्व में एक अजीब निरालापन था और वे एक ईमानदार जर्नलिस्ट थे ; यही नहीं, जर्नलिज्म के चलते-फिरते कालेज थे। कहावत है कि ऊँट जब तक पहाड़ के नीचे नहीं जाता तब तक अपने को बहुत ऊँचा समझता है। मालूम नहीं कि हमारे इन रेगिस्तानी दोस्तों के मन में पहाड़ के निकट जाने पर क्या भाव उत्पन्न होंगे ; पर यदि हिंदी पत्रों के संपादक चिंतामणिजी के निकट जाते, तो वे मन में यही ख्याल करते कि चिंतामणिजी दरअसल संपादकाचार्य हैं ; और वे अभी हमें वर्षों तक संपादन-कला सिखला सकते हैं।

अखिल भारतीय-पत्रकार सम्मेलन ने उन्हें अपना सभापति चुन कर अपने को गौरवान्वित किया था, इसमें संदेह नहीं।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

बाबू जयशंकर 'प्रसाद'

"ज़रा किवाड़ खोलकर देख तो सही कि आज इस बेवक्त कौन दरवाजा खटखटा रहा है?"—'प्रसादजी' ने आश्चर्य भरी आवाज में नौकर से कहा।

सन् १९३५ का साल था। १९ मई को दोपहर के समय अपने पुराने मकान में लकड़ी के तख्त पर एक तैमद बाँध एक पतला-सा कपड़ा शरीर पर डाले प्रसादजी नींद को बुलाने का प्रयत्न कर रहे थे। लू चल रही थी; किवाड़ बंद थे, फिर भी गर्मी के मारे उन्हें नींद नहीं आ रही थी; पसीना टपक रहा था, जी घबड़ा रहा था, आँखें बंद कर-कर खोल रहे थे और बनारस की गर्मी को कोस रहे थे। उसी समय कोई ढाई बजे जब किसी ने उनके मकान का दरवाजा खटखटाया तब तो प्रसादजी चौंक पड़े और नौकर को आवाज दी।

"इस समय भरी दोपहरी में कौन आया होगा?"—किवाड़ खोलते हुए नौकर कहने लगा—"लू लगकर आज दो-तीन पुलिस के सिपाही भी तो मर गए हैं।"

उस भरी दोपहरी में बनारस की तपती हुई लू में, राय-

जी, डा० मोतीचंद चौधरी के साथ एक अपरिचित अपने दरवाजे पर खड़ा देखकर प्रसादजी अचकचा

बाबू जयशंकर 'प्रसाद'

...?" प्रसादजी अधिक न पूछ सके। राय साह कर उनसे मेरा परिचय कराया।

× × ×

अपने उस कौतूहल-पूर्ण कौमार्य में जब हाथ लगने पर प्रत्येक पुस्तक को पढ़ डालने की उतावली होती थी और जब कहानियों, उपन्यासों और नाटकों के लिए विशेष आकर्षण होता था—और आज भी यह आकर्षण किसी प्रकार घटा नहीं है—जब उनके कथानक एवं घटना-वैचित्र्य की ओर ही दृष्टि रहती थी, उन ग्रंथों के लेखकों से कोई काम नहीं रहता था, तब अनजाने ही मैंने 'प्रसाद'जी का 'अजातशत्रु' नाटक पढ़कर रख दिया था। आज मुझे इस बात का स्मरण नहीं कि वह नाटक मुझे कैसा भाया था, बाद में उसकी कोई भी स्मृति बाकी नहीं रही थी; केवल यही याद रहा था कि 'अजातशत्रु' नामक कोई नाटक अवश्य पढ़ा था। उन्हीं दिनों 'विशाख' भी छपा था। उसकी एक प्रति भी हाथ लगी थी; परंतु वह शुष्क प्रतीत हुआ और जब उससे मनोरंजन नहीं हुआ, तब उसे अधूरा ही छोड़ दिया। प्रसादजी की महत्ता, उनकी कृतियों की उच्चता एवं उनको जानने की उत्सुकता तब हृदय में स्थान नहीं पा सकी, उनका खयाल भी नहीं आया।

किंतु जब बरसों बाद सन् १९२७ में खड़ी बोली के कट्टर विरोधी एवं उसके साहित्य को तुच्छ समझनेवाले भी 'सुधा' के प्रथम अंक में समालोचक द्वारा उद्धृत 'प्रसाद'जी के 'आँसू' के कुछ छंदों को पढ़कर उस कवि की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सके, तब तो सहसा 'प्रसाद' जी के प्रति श्रद्धा का संचार हुआ और 'आँसू' को अनेक बार पढ़ा। नवयुवकों के जीवन में एक वह समय आता है, जब वे प्रेम के प्यासे होते हैं, दूसरों का प्यार पाने को ललचाते हैं, उसके लिए भरसक प्रयत्न करते हैं, जब उनकी नन्हीं-नन्हीं छातियों में भावुकता का सागर हिलोरें मारता है, उनका छोटा-सा दिल छोटी-छोटी-सी बातों से ही आहत हो जाता है; जब अपने दिल की बात दूसरों से कहने

को, अपने छोटे से तुच्छ भेदों को बताने को वे तड़पने लगते हैं ; जब अपने प्यारों से वियोग की आशंका मात्र से ही जी तड़प उठता है, एक बारगी गला रुँध जाता है, आँखों में आँसू छल-छला आते हैं और जी अनमना हो जाता है, तब जिस जल्दी के साथ मित्रता होती है, कुछ ही क्षणों में अभिन्न हृदयता स्थापित हो जाती है, एक दूसरे में प्रगाढ़ विश्वास पैदा हो जाता है और उतने ही वेग से शत्रुता भी ठन जाती है, बिना किसी खास कारण के एक दूसरे में खिंच जाती है, जीवन भर के लिए मनोमालिन्य हो जाता है, जब ज़रा-ज़रा सी बात पर रूठने में हिचक नहीं होती और जब मानने में भी देरी नहीं लगती, उस भावुकता-काल में "आँसू" के छंदों ने मेरे दिल पर गहरा रंग जमाया और जो छाप उस समय दिल पर बैठी वह आज भी मिटी नहीं। अब भी जब कभी जीवन में सूनेपन का अनुभव होता है, जी अनमना हो जाता है, पहलू में कुछ तड़प-सी मालूम होती है, प्रेम में जब विरक्ति का संचार होता है और दूसरों की बेरुखी, उनकी स्वार्थ-भावना जब दिल पर चोट पहुँचाती है, तब अनजाने आँखों में आँसू भर आते हैं ; ओंठ आप-ही-आप कहने लगते हैं—

अवकाश भला है किसको,
सुनने को करुण कथाएँ।
बेसुध जो अपने सुख से,
जिनकी हैं सुप्त व्यथाएँ॥"

और जब दिल आँसू का एक घूँट पीकर संतोष कर लेता है, तब 'आँसू' की कुछ पंक्तियाँ ही दिल को तसल्ली देती हैं।

यही कारण था कि अपने मित्रों को भी अपनी प्यारी वस्तु भेंट करने को जी चाहने लगा था एवं तब 'आँसू' की कई प्रतियाँ मँगवाकर अपने मित्रों में बाँटीं, उनके सम्मुख उस कवि की

भावुकता की व्याख्या की, अपने दिल पर होनेवाले प्रभाव एवं शांति को भी पूरी तरह बताया। इस प्रचार का क्या प्रभाव हुआ, किसने प्रसाद की कद्र की, किन-किन दिलों को प्रसाद के 'आँसू' द्रवित कर सके या शांति-सुधा दिला सके, यह जानने की इच्छा नहीं हुई। तब भी था और आज भी मेरा मत यही है कि 'प्रसाद'जी के 'आँसू' का भारतीय साहित्य में बहुत ही उच्च स्थान है। हिंदी-साहित्य की वह अमूल्य निधि और उस कवि की अमर कृति है। ऐसी सुंदर कृति का वह साधारण गेटअप देखकर खेद होता है। उसका दूसरा संस्करण अधिक अच्छा छपा है। परंतु उसे भी सुंदर नहीं कहा जा सकता। मुझे तो उससे भी असंतोष है। उमर खैयाम के सुंदर सजे हुए सचित्र संस्करण देखकर 'आँसू' को भी वैसे ही सचित्र स्वरूप में देखने को जी ललचाता है। 'प्रसाद'जी के उस अमर-काव्य के एक-एक पद पर सुंदर भाव-पूर्ण चित्र बन सकते हैं।

×				×				×

इधर पिछले सात-आठ सालों से मैं यदा-कदा हिंदी में लेख लिखने लगा था और हिंदी की ओर मेरा झुकाव भी बढ़ने लगा था; परंतु १९३० के अंतिम महीनों में ही मैंने प्रथम बार प्रसादजी की कृतियों का पूरा-पूरा परिचय प्राप्त किया था। आधुनिक हिंदी-साहित्य से परिचय प्राप्त करने एवं हिंदी गल्प-साहित्य का पूरा-पूरा अध्ययन करने का मैंने निश्चय किया था। तभी मैंने 'प्रसाद'जी की सब प्रकाशित कृतियों को मँगवाया और ध्यान-पूर्वक पढ़ा। तब जाकर 'प्रसाद'जी के महत्व का कुछ-कुछ ज्ञान हुआ। 'प्रसाद'जी की कहानियों का पूरा-पूरा अध्ययन किया और उसी जोश में मैंने उनकी कहानियों के सद्य प्रकाशित गल्प-संग्रह 'आकाशदीप' की एक विस्तृत आलोचना भी लिख डाली। उस प्रारंभिक जोश

में लगे हाथ उस समालोचना की एक प्रति 'प्रसाद'जी के पास भेज देने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। परंतु जैसा उनका का नियम था, वे अपने गंभीर मौन को बनाए रहे और यदा-कदा श्रीयुत विनोदशंकर व्यास के द्वारा ही 'प्रसाद'जी की कुछ खबर पाकर मुझे संतोष कर लेना पड़ा।

'प्रसाद'जी अपने इस अज्ञात, अपरिचित समर्थक के प्रति भी मौन रहे, यह बात दिल को अखरी; परंतु बाद में उनका मेरे प्रति रुख बदल गया और कुछ ही वर्षों बाद, शायद सन् ३४ से ही उन्होंने यह नियम बना लिया था कि ज्यों ही उनकी कोई नई पुस्तक छपकर तैयार होती, उसकी एक प्रति पर हस्ताक्षर करके मेरे पास भिजवा देते थे। प्रसादजी की वे सप्रेम भेंटें मेरी एक अमूल्य निधि हैं। बीमार पड़े थे, स्वास्थ्य दिन-पर-दिन बिगड़ता जा रहा था—और वही बीमारी उनकी अंतिम बीमारी हुई—तथापि प्रसादजी ने अपने नियम के अनुसार अपने अंतिम एवं सर्वश्रेष्ठ काव्य 'कामायनी' की एक प्रति हस्ताक्षर करके भेज दी थी। प्रसादजी की इस कृपा को, उनके इस स्नेह को, मैंने आशीर्वाद के रूप में ही स्वीकार किया था।

'प्रसाद'जी अपनी कृतियाँ मेरे पास भिजवाते रहे; पर पत्र वे बहुत कम लिखते थे। इधर पिछले दो-एक वर्षों में ही उनके कुछ पत्र आए थे। वे व्यर्थ के पत्र-व्यवहार से पूर्णतया बचे रहते थे। जो पत्र उनके आते थे, वे बहुत ही संक्षिप्त और नपे-तुले शब्दों के होते थे। 'प्रसाद'जी ने इन ऊपरी बातों को कभी महत्व नहीं दिया और यही कारण था कि जो व्यक्ति उनसे कभी मिला न हो, उसके हृदय में प्रसादजी के प्रति गलत भावना हो जाना एक अनहोनी बात न थी।

'प्रसाद'जी के समान लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति से मिलने को कौन

उत्सुक न होगा ? परंतु वे हमेशा बाहरी आडम्बर एवं ऊपरी दिखावट से दूर ही रहे, जिससे एक अनजान व्यक्ति के लिए उनके व्यक्तित्व में विशेष आकर्षण नहीं हो सकता था। यही कारण था कि 'प्रसाद'जी से मिलने के लिए मुझे विशेष उत्सुकता नहीं थी। बनारस जाकर भी उनसे मिलने की न सोचना, एक भयंकर अपराध से कम नहीं था ; परंतु यही ख्याल जी में घर कर गया था कि 'प्रसाद'जी बहुत ही रूखे-सूखे, एकांतसेवी साहित्यिक व्यक्ति हैं। 'आँसू' के लेखक को एक हृदयविहीन व्यक्ति मानना कुछ असंभव-सा प्रतीत होता था ; परंतु 'प्रसाद'जी की वह संस्कृत-प्रधान भाषा और उनके वे बौद्ध-कालीन नाटक मुझे संस्कृत के कट्टर पंडितों और मुँडे हुए सिरवाले भिक्षुकों की याद दिलाते थे। उन पंडितों की वह नीरसता, अपनी विद्वत्ता पर उनका अगाध अभिमान, दूसरों को निरंतर उपदेश देने की वह प्रकृति एवं संस्कृत न जाननेवालों के प्रति उनका तीव्र तिरस्कार एक बारगी याद आ जाता था। 'प्रसाद'जी के व्यक्तित्व के साथ उनका संबंध-सा जान पड़ता था और आप-ही-आप उनके पास जाने में कुछ हिचक पैदा होने लगती थी।

पुनः 'प्रसाद'जी के जो चित्र देखने को मिलते थे—श्रीयुत व्यास की कृपा से एक चित्र उनके हस्ताक्षर समेत मुझे भी प्राप्त हो गया था—उनसे 'प्रसाद'जी की गंभीरता ही प्रदर्शित होती थी। 'प्रसाद'जी तक पहुँचकर कोई भी मनोरंजन होने की संभावना नहीं देख पड़ती थी। उनसे मिलने के बाद मेरा यह निश्चित मत हो गया था कि 'प्रसाद'जी का जो चित्र, उनका जो व्यक्तित्व हमें उनकी कृतियों या उनके चित्रों में देखने को मिलता है, वह उनके सच्चे व्यक्तित्व से बहुत भिन्न था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपना चित्र उतरवाते समय 'प्रसाद'जी हमेशा गंभीर बन जाते थे। उनका वह हँस-मुख चेहरा, उनकी वह आनंद-भरी बातचीत

एवं वह प्रफुल्ल व्यक्तित्व उनसे मिलनेवालों एवं उनके परिचितों तक ही सीमित रहा। जिन्हें कभी उनसे मिलने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ था, उनके लिए 'प्रसाद'जी के स्वभाव का ठीक-ठीक अंदाज लगाना कठिन ही नहीं असंभव था।

'भारत-कला-भवन' को देख चुकने के बाद जब लौट रहे थे तब राय साहब ने पूछा—'क्या 'प्रसाद'जी से मिले हो?'

मैंने जवाब दिया—'नहीं' और साथ ही पूछा भी कि क्या वे यहीं हैं?

'प्रसाद'जी बनारस छोड़कर कहीं नहीं जाते। क्यों न अभी चले चलें?'

सो उस भरी दोपहरी में 'भारत-कला-भवन' से हम सब निकले, कुछ दूर तक मोटर में गए और गली के कोने पर मोटर को छोड़कर 'प्रसादजी' के मकान की ओर पैदल ही बढ़े। 'प्रसादजी' का दरवाजा खटखटाया। जब राय साहब ने उनसे मेरा परिचय कराया तब उन्होंने अपने नए मकान को खुलवाने के लिए नौकर दौड़ाया और हमारा आतिथ्य करने के लिए भी वे प्रयत्नशील हुए। तीसरा पहर हो रहा था, ताजे अनार का शर्बत बनवाया और भारत-प्रसिद्ध बनारसी पान की गिलौरियाँ भी आईं।

वहीं उस नए मकान में बैठकर कोई दो घंटे तक 'प्रसाद'जी से बातचीत होती रही। 'प्रसाद'जी से मेरी वही प्रथम और अंतिम भेंट थी। उस समय तो कभी यह खयाल नहीं हो सकता था कि वह भेंट ही मेरी अंतिम भेंट होगी। 'प्रसाद'जी को मेरे 'आकाशदीप' वाले लेख का स्मरण हो आया और उसका उन्होंने उल्लेख भी किया। उसी सिलसिले में मैंने इस बात का प्रयत्न किया कि उनसे उनके स्वयं के बारे में कुछ बातचीत

हो ; पर 'प्रसाद'जी उसे टाल गए, और विशेषतया मेरे ही बारे में पूछते रहे। रायसाहब ने तब बताया कि किस प्रकार 'प्रसाद'जी को मेरे 'ताज', 'एक स्वप्न की शेष स्मृतियाँ' आदि लेख पसंद आए थे और उन्होंने ही रायसाहब का ध्यान उन लेखों की ओर आकर्षित किया था।

इधर-उधर की बातचीत होती रही और तब रायसाहब ने 'प्रसाद'जी के महाकाव्य 'कामायनी' की, जिसके कई अंश यत्र-तत्र प्रकाशित हो चुके थे और जिनकी प्रशंसा भी हुई थी, बात छेड़ी। जहाँ तक मुझे याद है, उस समय तक 'कामायनी' के नौ सर्ग लिखे जा चुके थे। रायसाहब 'प्रसाद'जी से आग्रह कर रहे थे कि वे इस महाकाव्य को समाप्त कर दें और 'प्रसाद'जी का विचार था कि जितना अंश लिखा जा चुका है, उसे पहले भाग के रूप में छपवा दें। मेरी निजी राय यह थी कि सारा महाकाव्य एक साथ ही छपे और यही बात मैंने 'प्रसाद'जी से भी कही, तो वे अपनी अस्वस्थता और अन्य घरेलू झंझटों का ज़िक्र करने लगे। इसी प्रकार 'कामायनी' के बारे में बातचीत होती रही। उस समय भी मेरा निश्चित मत यही था और अब तो वह दृढ़तर होता जा रहा है कि 'प्रसाद'जी का यह महाकाव्य इस युग की एक बहुत ही महत्वपूर्ण कृति है। हिंदी के लिए यह सौभाग्य की बात थी कि 'प्रसाद'जी अपनी इस महान् कृति को संपूर्ण कर गए। इन पिछले बरसों में कई व्यक्तियों ने खड़ी बोली में अनेकानेक महाकाव्यों की रचना की है; उनमें से कितने महाकाव्य स्थायी साहित्य में स्थान पा सकेंगे, यह समय ही बता सकेगा। परंतु इस बारे में कभी दो मत नहीं हो सकते कि 'कामायनी' को अमर साहित्य में स्थान मिलेगा। वह हिंदी-साहित्य की ही नहीं, विश्व-साहित्य की एक अमूल्य निधि है।

'कामायनी' के बारे में बातें होती रहीं और 'प्रसाद'जी उसकी हस्तलिखित प्रति हाथ में दबाए बैठे रहे। रायसाहब के आग्रह को वे टाल गए; परंतु जब मैंने विशेष आग्रह किया तब उन्होंने सकुचाते हुए उस हस्तलिखित प्रति को खोला और कुछ शब्दों में उसके कथानक को समझाने के बाद वे उस महाकाव्य के प्रारंभिक अंश पढ़ने लगे। 'प्रसाद'जी पढ़ते जाते थे और हम सब शांत सुन रहे थे। मैं बैठा 'प्रसाद'जी को ताक रहा था; उनको निकट से देखने का, उनके व्यक्तित्व को ठीक तरह जानने और उसका पूर्ण परिचय पाने का अवसर मिला था। कवि के ही मुख से उसी के द्वारा रचे गए महाकाव्य को सुनने का अवसर कितनों को प्राप्त होगा? 'कामायनी' को सुनते-सुनते मुझे अँग्रेजी भाषा के महाकवि मिल्टन एवं उसके अमरकाव्य 'पैराडाइज लास्ट' का खयाल आया। प्रलय-प्रवाह में से निकली हुई पृथ्वी एवं पुनः उसके बसने की कथा भारतीय साहित्य का वह अमर तपस्वी गा रहा था और मैं सोच रहा था कि मनु का वर्णन करते समय 'प्रसाद'जी स्वयं का कितना अच्छा वर्णन लिख गए हैं—

तरुण तपस्वी-सा वह बैठा,
साधन करता सुर-श्मशान।
नीचे प्रलयसिंधु - लहरों का,
होता था सकरुण अवसान॥

पवित्र भगवती गंगा के किनारे वाराणसी में बैठा वह युवा तपस्वी, देवी सरस्वती का वह वरद पुत्र धूनी रमाए अपने अमर गान गा रहा था। उस किनारे पर साहित्यिकों तथा तपस्वियों के उस श्मशान में बैठा वह अमर गायक देखता था कि वासनाओं का तुमुल अंधड़ उठ-उठकर फैल रहा था, भौतिकता का वह प्रलयंकर प्रवाह भीषण वेग के साथ उमड़ रहा था और भावुक

की वे सुकुमार सुंदर तरंगें जड़ जगत् के कठोर तट पर टकरा-टकरा कर छिन्न-भिन्न हो रही थीं और वह तपस्वी—

[वह] पुरुष भीगे नयनों से, देख रहा था प्रलय प्रवाह।

× × ×

समय अधिक होगया था, साढ़े चार बजने वाले थे, उधर मोटरवाला स्टेशन पर लौटने के लिए जल्दी मचा रहा था। 'प्रसाद'जी से विदा ली और लौटते समय इस बात का मन-ही-मन अनुभव किया कि यदि 'प्रसाद'जी से मिलना न होता, तो एक बहुत ही बड़ा सुअवसर खो देता। आज उन घड़ियों का स्मरण कर रायसाहब को धन्यवाद दिए बिना नहीं रहा जाता। उस दिन रायसाहब ने प्रेमचंदजी के लिए भी पूछताछ की थी, परंतु ज्ञात हुआ कि वे अपने गाँव चले गए थे। तब प्रेमचंदजी से न मिल सका और बाद में मिलने का अवसर भी न आया। अगर उस दिन 'प्रसाद'जी से न मिलता तो फिर उनसे भी मिलने का अवसर न आता। प्रेमचंदजी से मिलने का खेद रह गया है और तब 'प्रसाद'जी के भी दर्शन न कर सकने का अफसोस रह जाता। 'प्रसाद'जी से जिनका निजी परिचय था, वे ही जानते हैं कि उनसे एकबार मिलते ही किस प्रकार अनजाने ही उनके प्रति प्रेम, आदर और श्रद्धा उत्पन्न हो जाती थी।

'प्रसाद'जी के मित्रों ने, प्रेमी साथियों ने, उनको धीरे-धीरे मरते देखा। उनका बरसों का साथ छूट रहा था, वे बेबस बैठे देख रहे थे। उन्हें शायद यह ज्ञात हो गया था कि अब 'प्रसाद'जी कुछ ही दिनों के मेहमान हैं; परंतु जो बनारस से सैकड़ों कोस दूर थे, उन्हें पूरी-पूरी हालत का पता न था, उन्हें फिर भी आशा थी। परंतु जब अचानक एक दिन वह दुसंवाद अखबार में पढ़ने को मिला, जी धक से रह गया। जीवन में सूनेपन का अनुभव

हुआ और पुनः उन घड़ियों की याद आई, जब 'आँसू' ने जीको यदा-कदा तसल्ली दी थी। महीनों के उस चिंतापूर्ण दिनों की—

जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक में स्मृति-सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर,
वह आज बरसने आई॥

दो आँसू ढलक पड़े और एकांत में जाकर मैं उस दुर्घटना की बात सोचने लगा।

—डाक्टर रघुवीरसिंह

आचार्य पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा द्विवेदी

जुलाई १६५८ में (म्योर सेंट्रल) कालेज खुलने पर जहाँ और साथियों ने एल-एल० बी० आदि कक्षाओं में अपना प्रवेश कराया और यूनिवर्सिटी लॉ कालेज में जाने लगे, वहाँ धीरेंद्रजी और मैं, दोनों म्योर कालेज से ही चिपके रहे और हम लोगों ने संस्कृत को अपना एम० ए० की पढ़ाई का विषय चुना। उस समय संस्कृत के प्रधान प्रोफेसर थे गुरुवर महामहोपाध्याय डा० गंगानाथजी झा और उनके सहायक थे पं० सीताराम शास्त्री। श्री महामहोपाध्याय महोदय के व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव उनके सभी छात्रों पर पड़ता था। वस्तुतः उन्हीं के कारण हम लोगों ने संस्कृत ली थी। इसलिए दशहरे की छुट्टियों के आरंभ होने के पूर्व ही जब उनके प्रयाग से काशी चले जाने की बात निश्चित हो गई, तब धीरेंद्रजी को और मुझको यह अनुभव हुआ कि पंडितजी हम लोगों को अधबर में छोड़े जा रहे हैं; परंतु बस ही क्या था। पंडितजी ने विशेष परिश्रम करके कुछ कठिन ग्रंथ जाने के पूर्व ही समाप्त कर दिए थे और जाते समय आदेश देते गए—मेरी जगह पं० ठाकुर-प्रसादजी आ रहे हैं, वे प्रगाढ़ पंडित हैं। उनसे शेष ग्रंथ पढ़ लेना।

नवंबर में हमारे नए पंडितजी आए। ऊपर की कक्षा (एम० ए०) में हम दो ही छात्र थे। पंडितजी कालेज में नए थे; आरंभ से ही हम दोनों पंडितजी के विशेष कृपापात्र बन गए। श्री महा-महोपाध्यायजी और इन पंडितजी की पाठन-शैली में आकाश-पाताल का अंतर था। ये थे पुरानी चाल के पंडित। आरंभ में हम दोनों घबड़ाए, शायद पंडितजी भी मन-ही-मन झुँझलाए हों। परंतु शीघ्र ही वे हमारी कमजोरी और हम उनकी प्रगाढ़ विद्वता को समझ गए। फिर तो एम० ए० प्रथम वर्ष के शेष महीने और अंतिम वर्ष पूरा, सारा समय बड़े आराम से कटा। पंडितजी का संपूर्ण स्नेह हम दोनों पा सके, उनके घर पर अक्सर चले जाते और पंडितजी भी जी खोलकर बातें करते।

यों तो आचार्यजी नम्रता और सौजन्य की मूर्ति थे; पर शास्त्रीय वाद-विवाद में जहाँ पांडित्य का प्रश्न उपस्थित होता, वहाँ वे कभी दबनेवाले नहीं थे, चाहे कोई भी हो। आरंभ में जब वे कलकत्ते में पाणिनि-व्याकरण के व्याख्याता की हैसियत से गए, तब की एक बड़ी रोचक घटना एक बार उन्हें याद आई थी। उन दिनों वहाँ संस्कृत कालेज के अध्यक्ष थे प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान डा० हरप्रसाद शास्त्री। शायद हमारे पंडितजी की विद्वता की थाह लेने के इरादे से वे पहले ही दिन संस्कृत एम० ए० के स्वरचित प्रश्न दिखाते हुए बोले—"पंडितजी, जरा देखिए ये पेपर कैसे बने हैं।" पंडितजी ने कुछ देर देखा और पूछा—"किसके बनाए हुए पर्चे हैं ये ?" उन्होंने कहा—"किसी के भी हों, आप अपनी राय दीजिए।" पंडितजी ने कहा—"राय क्या दूँ, ये प्रश्न अशुद्ध हैं।" बस फिर क्या था, अच्छी खासी बहस छिड़ गई। शास्त्रीजी ने लाइब्रेरी से पुस्तकें मँगवाने को चपरासी बुलाया; पर हमारे पंडितजी ने मना करते हुए कहा—"ठहरिए पुस्तकें क्या कीजिएगा, मैं अभी स्पष्ट किए देता हूँ।" उन्होंने सिद्धांत कौमुदी

आदि से कंठस्थ उद्धरण देते हुए अपना मत सिद्ध कर दिया। उसी दिन से शास्त्रीजी उनकी असाधारण विद्वत्ता के कायल हो गए। यह एक तथ्य है कि प्राचीन परिपाटी के विद्वानों को लाइब्रेरी की आवश्यकता उतनी नहीं होती थी। अब वह परिपाटी कहाँ है ?

इसी तरह की एक घटना प्रयाग-विश्व-विद्यालय के अन्तर्गत संस्कृत-पाठ्य-ग्रंथ-निर्धारिणी समिति की एक बैठक में हुई थी, जिसमें 'सिद्धांत-मुक्तावली' कोर्स में रखी जाय या 'तर्कभाषा', इस बात पर विवाद छिड़ पड़ा। पंडितजी ने तर्कभाषा का पक्ष लिया और मुक्तावली को दुरूह बताकर उसको रखने की राय नहीं दी। अन्य सदस्यों के आग्रह करने पर आप मुक्तावली के अंश खोलने लगे और पूछने लगे—कौन पढ़ायगा इनको ? अंत में पंडितजी की ही बात मानी गई।

आचार्यजी आगरा, जोधपुर, कलकत्ता, बंबई और काशी में रहे थे। इन सभी जगहों पर उनके शिष्य मौजूद हैं। काशी में गवर्नमेंट सर्विस में इनके आने का मुख्य कारण यह था कि इन्होंने डा० वेनिस को पढ़ाया था। उस समय काशी की पंडित-मंडली अँग्रेज आदि विदेशियों को संस्कृत पढ़ाना आज से भी अधिक नापसंद करती थी ; पर पंडितजी साहसी और स्वतंत्र विचार के थे। इस बात की दो-चार बार चर्चा हम लोगों से भी हुई और पंडितजी ने पंडित समुदाय की इस संकुचित नीति की सदा निंदा की। गाँधीजी का हरिजन-आंदोलन जब चला तब पंडितजी ने ही अपने गाँव में अपने कुएँ से उनको पानी भरने की अनुमति दी और गाँव के अन्य कट्टर ब्राह्मणों द्वारा की गई निंदा की जरा भी पर्वाह नहीं की। पंडितजी बंबई में अपने रहने की बहुत-सी बातें सुनाया करते। वहाँ जैन सेठ चारपाइयों के खटमलों

को भोजन देने के लिए गरीब आदमियों को कुछ पैसे देकर उन चारपाइयों पर सुलाया करते थे। पंडितजी का मुख इस 'अहिंसा और परोपकार' की निंदा करते समय गुस्से से लाल हो जाता था।

पंडितजी बहुधा धोती ही पहना करते थे; भयंकर जाड़े मे कभी-कभी पाजामा पहन लेते थे। एक बार हम लोगों ने पूछा—"पंडितजी, आप पाजामा कब से पहनने लगे?" उन्होंने कहा—"संस्कृत-पाठशालाओं की इंस्पेक्टरी करते समय गढ़वाल, कुमायूँ आदि प्रदेशों में घोर जाड़े में भी जाना पड़ा। वहाँ धोती से काम न चला। देखा बड़े-बड़े कट्टर पंडित भी वहाँ पाजामा ही पहनते हैं। मैं भी पहनने लगा। कोई बुराई नहीं है।" पंडितजी देश और काल के अनुसार अपनी रहन-सहन में परिवर्तन करने के पक्षपाती थे।

१९२० के मार्च में हम लोगों ने एम० ए० की परीक्षा दी। अंतिम वर्ष के सारे ग्रंथ पंडितजी के चरणों में बैठकर ही पढ़े थे। अकेले ही उन्होंने वेद, प्रातिशाख्य, प्राकृत व्याकरण, काव्य प्रकाश, गृह्यसूत्र, मनुस्मृति और (कुछ अंश) सिद्धांत कौमुदी पढ़ाई थी। इतने क्षेत्र के व्यापक ग्रंथ पढ़ाना उस समय के क्रम के अनुसार एक ही अध्यापक का काम था। आज विश्व-विद्यालय के संस्कृत विभाग में हम पाँच अध्यापक अपनी-अपनी शाखा के विशिष्ट ग्रंथ पढ़ाते हैं और तब भी अनुभव करते हैं कि हमारा कार्यक्षेत्र कुछ और संकुचित होता तो अधिक अच्छी पढ़ाई कर सकते। अन्यों की बात नहीं कहता; पर इतना जानता हूँ कि यदि मुझसे कभी यह कहा जाय कि एम० ए० के सारे ग्रंथ पढ़ाओ तो दिल दहल जाय। पंडितजी व्याकरण में विशेष सिद्धहस्त थे और प्राय: पुस्तक देखे बिना ही पढ़ाने के आदी थे।

पंडितजी अत्यंत सरल स्वभाव के थे और उनके हृदय में अपने शिष्यों के लिए अगाध स्नेह था। परीक्षा पास कर लेने पर जब मैंने पंडितजी को प्रमाण-पत्र (सार्टीफिकट) लिख कर भेजने के लिए पत्र लिखा, तो पंडितजी ने उत्तर दिया कि—"तुम्हीं सार्टिफिकट लिख कर और टाइप कराकर भेज दो, मैं दस्तखत करके भेज दूँगा।" अगत्या मुझे ऐसा ही करना पड़ा और गुरुवर ने तुरंत दस्तखत करके वापिस भेज दिया और लिखा—"तुमने तो अपने विषय में बहुत कम लिखा है, इससे कहीं अधिक योग्य हो। दूसरा इससे अच्छा लिखकर भेजो।" उनका स्नेह और वात्सल्य इस हद तक पहुँचा हुआ था।

मेरे कालेज छोड़ने के थोड़े दिन बाद ही पंडितजी की पेंशन हो गई। १९२२ में प्रयाग-विश्व-विद्यालय का जब पुनः संगठन हुआ तब अक्टूबर में पंडितजी फिर पार्ट टाइम अध्यापक के रूप में बुलाए गए। संस्कृत-विभाग के वर्तमान अध्यक्ष श्री प्रोफेसर प्रसन्न-कुमार आचार्य उस समय भी अध्यक्ष थे। पंडितजी ने इन्हें कलकत्ता विश्व-विद्यालय में पढ़ाया था। इस कारण एक-आध बार पंडितजी से लोगों ने पूछा कि—"आप अपने शिष्य के नीचे कैसे काम कर सकेंगे?" पंडितजी ने बड़े मार्मिक शब्दों में उत्तर दिया। बोले—"कुर्सी का आदेश मानना चाहिए। अध्यक्ष की कुर्सी पर मिट्टी के पुतले को भी बिठला दो, उसका भी मैं आदेश मानूँगा। प्रसन्नकुमार तो मेरे प्रिय शिष्य हैं।" यह था पंडितजी के आत्म-नियंत्रण का आदर्श।

पंडितजी का शारीरिक स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान था। मुझसे और धीरेंद्रजी से बराबर कहा करते थे—तुम लोग बड़े दुर्बल हो। व्यायाम क्यों नहीं करते, जब शरीर ही अच्छा न रहेगा तो पढ़कर क्या करोगे? देखो मेरे लड़कों को। दोनों को

मैंने डंड, बैठक, कुश्ती की ओर प्रेरित करके कैसा मजबूत बना दिया है। उनके सुपुत्र श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम० ए० का गठा हुआ शरीर देखकर मुझे अपने पंडितजी के इन शब्दों की याद आती है।

पेंशन लेने के कई वर्ष बाद तक आमरण पंडितजी स्वस्थ रहे और पूजा-पाठ में व्यस्त रहकर परलोक बनाते रहे। उन-सा आदर्श तपस्वी ब्राह्मण इन दिनों मुश्किल से दिखाई पड़ता है। उनके शिष्यों के हृदयों में उनके प्रति एक जीती-जागती श्रद्धा है और है एक अमिट निधि के रूप में उनका स्नेह।

—डाक्टर बाबूराम सक्सेना

श्री अनागारिक धर्मपालजी

सन् १९०२ की बात है। उन दिनों मैं बनारस ज़िले के स्कूलों का डिप्टी इंस्पेक्टर था। एक दिन श्री धर्मपालजी मेरे पास आए। उनके नाम से मैं परिचित था; क्योंकि शिकागो में सर्व-धर्म-सम्मेलन हुआ था, उसमें वे बौद्ध-धर्म के प्रतिनिधि होकर गए थे। मुझसे मिलने पर उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा कि सारनाथ में फिर से जान डालनी चाहिए। इसके लिए उनका एक आयोजन तैयार था। वे योरुप से कुछ सामान ले आए थे और एक गोरा शिक्षक भी मिल गया था। इतने साधन को पाकर वे कला-कौशल की एक पाठशाला खोलना चाहते थे। मैं उनके साथ हो लिया। हम लोग सारनाथ गए। एक स्थान चुना गया। वहाँ छप्पर की झोंपड़ियाँ बनवाई गईं और उन्हीं में से एक में एक स्कूल जारी कर दिया गया। हम लोग बहुधा मिला करते थे। वे मेरे यहाँ आते थे और मैं उनके यहाँ जाता था। उनकी बातचीत में जोश था, उनके दिल में सारनाथ को वर्तमान भारत में फिर से ऊँचा स्थान देने की लगन थी। वे स्वप्न देखा करते थे कि सारनाथ में बौद्धों का एक बहुत बड़ा विश्व-विद्यालय खुलेगा, जिसमें चीन, जापान, बर्मा, स्याम

आदि देशों के विद्यार्थी आकर पढ़ेंगे। कला-कौशल का जो स्कूल उन्होंने खोला था, वह दो-तीन साल से अधिक नहीं चला; क्योंकि जो मशीनें वे यहाँ लाए थे वे इस देश के लिए उपयुक्त प्रमाणित नहीं हुईं और जिन साहब को उन्होंने नियुक्त किया था, वे अपने देश को लौट गए। जोश में आकर उन्होंने बहुत बड़ा विश्व-विद्यालय खोलने का विचार किया था। वे यह न समझ सके कि इस देश में छोटे-छोटे धंधों की, अधिक आवश्यकता है। उन्होंने अमेरिका में बड़े-बड़े विश्व-विद्यालय देखे थे; वे उन्हीं की नकल करना चाहते थे। लोगों ने उन्हें समझाया कि गाँव में अलग-अलग दस्तकारियों का प्रचार कीजिए; परंतु यह बात उनकी समझ में न आई।

धर्मपालजी बहुत जल्दी अप्रसन्न हो जाते थे और विरोधियों के प्रति बड़े कठोर शब्दों का प्रयोग करते थे। इस कारण उनके साथी उनको छोड़कर जल्दी ही अलग हो जाते थे। जब यह स्कूल न चला, तब उन्होंने एक साधारण प्राइमरी स्कूल खोलने के लिए मुझसे कहा। उनकी इच्छानुसार डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सहायता से मैंने एक स्कूल खुलवा दिया। इस बीच उन्होंने जमीन खरीद कर कुछ मकान बनवाने शुरू किए, जिनमें बौद्ध उपदेशक आकर रहने लगे। यह स्कूल बहुत अच्छा चला और सारनाथ बौद्धों का केंद्र हो गया। जल्दबाजी में आकर उन्होंने तत्कालीन गवर्नर साहब से बौद्ध-विश्व-विद्यालय की नींव भी डलवा ली। लोगों ने उन्हें समझाया कि पहले रुपया जमा कर लो, कुछ विद्यार्थियों को बुला लो, सौ-पचास प्रसिद्ध बौद्धों की कमेटी बना लो; परंतु वे न रुके। नतीजा यह हुआ कि नींव का पत्थर अब तक वहाँ गड़ा हुआ है; परंतु विश्व-विद्यालय अभी तक भविष्य की गोद में है।

धर्मपालजी घर के बड़े धनाढ्य थे। साथ ही होनोलुलू में

उन्हें एक बड़ी धनी महिला भी मिल गई थीं, जो उन्हें बराबर रुपया देती थीं ; इसलिए वे बार-बार हिंदुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रांतों में घूम आया करते थे। वे उन दिनों सदा यह कहा करते थे कि सारनाथ को मैं अपना घर बनाऊँगा। जब वे काशी आते तब मुझसे अवश्य मिलते। जीवन में अंत तक उनका यह स्नेह बना रहा। उनका सबसे बड़ा काम महाबोधी सोसाइटी का खोलना था। इसमें उनको बड़ी सफलता प्राप्त हुई। इस सोसाइटी की शाखाएँ लंदन, पेरिस, बर्लिन आदि नगरों में भी हैं। योरप जाने से पहले कोलंबो में, जो उनका जन्म स्थान है, मैंने उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की ; परंतु वे ऐसे बीमार थे कि डाक्टरों ने बाहरी आदमियों से उनका मिलना-जुलना बिलकुल बंद कर दिया था। वे उस समय मृत्युशैया पर थे ; परंतु बार-बार यही कहते थे कि मेरा काम सारनाथ में अभी बाकी है। ईश्वर की कृपा से वे अच्छे हो गए और सारनाथ में उन्होंने 'मूलगंध-कुटी-विहार' स्थापित किया। यह विशाल भवन उसी स्थान पर बना है जहाँ, कहा जाता है, बुद्धदेवजी सारनाथ आकर रहे थे। जब इस विहार की नींव पड़ी तब वे बड़े प्रसन्न थे और उन्होंने कई बार कहा था कि इस संसार में अब मेरा काम पूरा हो गया। इस समय सारनाथ में अनेक बौद्ध-भिक्षु आकर रहते और संस्कृत पढ़ते हैं। वहाँ एक पुस्तकालय और डाकखाना भी है। महाबोधी सोसाइटी का कार्यालय भी सारनाथ में आ गया है।

धर्मपालजी अच्छे वक्ता थे। उनकी अपील नवयुवकों को उत्तेजित कर देती थी। पैर से लँगड़े थे, परंतु चलने-फिरने से वे घबराते न थे। उनमें काम करने की बड़ी शक्ति थी। आवश्यकता पड़ने पर वे दिन-रात काम कर सकते थे। उनका रहन-सहन बहुत सादा था। वे बड़े सदाचारी थे और अपने मित्रों को भी सदाचार का उपदेश दिया करते थे। अपने सिद्धांतों पर वे अटल थे और

यदि कोई उनका विरोध करता तो वे उसके पीछे पड़ जाते। उनका विश्वास था कि संसार में फिर बुद्ध भगवान् का साम्राज्य होगा और भारतवर्ष का स्थान फिर से ऊँचा होगा। पुनर्जन्म में उनका विश्वास था और मरने से पहले उन्होंने कहा था कि मैं फिर जन्म लूँगा और सारनाथ में आकर काम करूँगा। धर्मपालजी में अद्भुत प्रतिभा और असाधारण शक्ति थी। यद्यपि वे लंका के रहनेवाले थे, तथापि वे अपने को भारतवासी ही कहते थे। लंका को वे भारत का एक अंग मानते थे। वे चाहते थे कि बौद्ध-संसार हिंदुओं के साथ सहयोग करे और बौद्ध हिंदू-संघ स्थापित हो। हिन्दू-महासभा ने काशी के अधिवेशन में उनको निमंत्रित किया था और वहाँ उन्होंने इस विषय पर बड़ा ओजस्वी व्याख्यान दिया था। श्री धर्मपालजी की आत्मा को बड़ा संतोष होगा और संसार का बड़ा कल्याण होगा, यदि हिंदू-जाति ऐसी संगठित हो जाय कि बौद्धों को भी उसमें स्थान मिले। ईश्वर से प्रार्थना है कि धर्मपाल-जी का यह शुभ संकल्प पूरा हो।

—रामनारायण मिश्र

पंडित नाथूराम शंकर शर्मा

कविता-कामिनी-कांत पं० नाथूराम शंकर शर्मा का मेरा परोक्ष परिचय सन् १९१४ में हुआ था। उन दिनों स्व० कविरत्न सत्यनारायणजी उनकी कविताओं का बड़े अनुराग-पूर्वक बखान किया करते थे। कविरत्नजी की पाठ्य-शैली अपूर्व थी. वह शंकरजी महाराज की कविताओं में सुवर्ण-सुयोग उत्पन्न कर देती थी। सत्यनारायणजी के प्रेम-रस-पगे वे शब्द आज भी कानों में गूँज रहे हैं। शंकरजी का 'अनुरागरत्न' इन दिनों छपकर प्रकाशित हो चुका था। हिंदी-जगत् में उसका हार्दिक स्वागत हुआ था।

सन् १९१६ में 'सर्वानंदजी' के चले जाने के बाद श्री हरि-शंकरजी शर्मा 'आर्य-मित्र' के संपादक नियुक्त होकर आए। १९१७ में मैं भी 'आर्य-मित्र' में पहुँच गया।

भाई हरिशंकरजी के सत्संग से तो शंकरजी का प्रत्यक्ष से अधिक परिचय प्राप्त हुआ। हरिशंकरजी उन दिनों प्रायः प्रति सप्ताह कविरत्नजी से कुछ-न-कुछ लिखा लिया करते थे। छोटी-बड़ी कोई-न-कोई कविता 'आर्य-मित्र' के प्रायः हर अंक में छपा करती। इसका कारण केवल शंकरजी का उत्कट पुत्र-प्रेम था।

उनका यह पुत्र-प्रेम तो पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ था। प्रतिदिन तीसरे पहर की डाक से हरदुआगंज से कविजी का कुशल-प्रश्न-संबंधी कार्ड, बिला नागा, आ जाता और हरिशंकरजी का प्रातः उठते ही पहला काम उस पत्र का उत्तर देना होता। यदि उत्तर देने में एक दिन की भी देर हो जाती और शंकरजी को हरिशंकरजी का कार्ड दूसरे दिन न मिलता, तो उसी दिन तार आ जाता। यह नित्य नियम था, जिसका कविजी के अंत तक पालन हुआ।

शंकरजी की कविताओं में मेरी आस्था इसी अवसर पर दृढ़ हुई—मैं प्रेमी से उनका भक्त बना। शंकरजी के व्यक्तित्व के प्रति भी, उनकी अनुपम निस्पृहता, ज्वलंत देश-प्रेम और हार्दिक कोमलता के कारण श्रद्धा उत्पन्न हुई। उनकी आदर्श त्याग-वृत्ति के संबंध में एक तथ्य के—जिसका वर्णन मैं आगे करूँगा—उस समय ज्ञात होने पर तो वह मेरे हृदय में और भी सुदृढ़ हो गई। कवि तो क्या, आज तो बड़े-बड़े 'धर्म-धुरंधरों' तक में इस गुण का आभास नहीं मिलता।

१९२५ ई० के फरवरी मास में मथुरा में दयानंद-जन्म-शताब्दी का विशाल मेला हुआ। इस उत्सव में देश-भर से विविध वृत्तियों के व्यक्ति इकट्ठे हुए थे। कुछ साहित्यिकों ने इस अवसर पर कवि-सम्मेलन का आयोजन किया। कविराज शंकरजी इस सम्मेलन के सभापति हुए थे; इसलिए उपस्थित जनता में बड़ा उत्साह था।

शंकरजी के साक्षात् दर्शन मैंने यहीं किए। इससे पूर्व मैंने 'कविता-कलाप' में उनका चित्रमात्र देखा था। बिना बताए ही शंकरजी को पहचान लेने में मुझे बिल्कुल दिक्कत नहीं हुई। वही बंद कालर का कोट, गले में रुमाल बँधा हुआ, सिर पर साफा, कवि-सुलभ कोमलता लिए हुए बुजुर्गानी गंभीर मुद्रा। इस सम्मेलन

में 'शताब्दी' में आए हुए दूर-दूर के साहित्यिक और आर्यसमाजी विद्वान् उपस्थित थे। कविता-पाठादि के उपरांत सभापति महाशय से कुछ सुनाने के लिए प्रार्थना की गई। इस पर शंकरजी के भक्त अजमेर के तत्कालीन राजनीतिक कार्यकर्ता स्वामी नृसिंहदेव सरस्वती ने उत्साहपूर्वक उनकी प्रसिद्ध होली सस्वर गा सुनाई। शंकरजी की रचना, ब्रजभाषा का संपुट, स्वामीजी का मधुर कंठ–रंग बरसने लगा। रसिक समुदाय शराबोर हो गया। होली की एक-एक कड़ी स्वामीजी को कई बार गानी पड़ी। शंकरजी की इस होली ने ही रसिक जनों की तृप्ति कर दी।

बातचीत में कभी-कभी शंकरजी अपनी कोई छोटी कविता भी पढ़ने लग जाते थे। भाई रामस्वरूप शास्त्री भी बैठे होते, उनसे इशारा कर देते और शास्त्रीजी पूरी सुना जाते। इस तरह बड़ी देर तक आनंद रहता। उनके पास से उठने को जी न करता था। हमें क्या पता था कि शंकरजी का यह अंतिम दर्शन है। हम लोग चलने लगे तो आपने सवारी आदि की चिंता ऐसे की जैसे कोई अपने बच्चों की करता है। बोले—शास्त्री, तुम इन्हें बिठला आओ।

कवि-हृदय प्रेम-पूरित, दयार्द्र, पर-दुख-कातर और निश्छल होना चाहिए। कविजी में इन गुणों की मानों उर्वराभूमि प्राप्त थी। जैसे सहृदय और सदय तथा स्नेही थे, काव्य में भी उसी का रूपांतर था। वे जो कुछ लिखते थे, उसमें एक मूक-वेदना अंतर्निहित रहती थी, उनके दिल की तड़पती बिजली उसमें कौंधती थी। देश की सामाजिक और राजनीतिक अधोगति पर उनके दिल में जो दर्द था, उनकी कविता उसी की एक आह मात्र होती थी।

कवि द्रष्टा होता है। जिस समय समस्त संसार 'मोहनिशा'

में होता है. कवि उस समय जागता है—प्रकाश की खोज में। दिवाली आई है; आबाल-वृद्ध-वनिता प्रसन्न-चित्त घूम रहे हैं। लेकिन शंकरजी दीवाली की दीपावली पर अपना अलग 'दिया' जलवा रहे हैं। भारतवासी लाखों दीपकों के प्रकाश में भी अपने घरों को नहीं देख पाते; लेकिन कवि-हृदय की कसक, आज वास्तविक प्रकाश के ह्रास से, द्विगुणित हो उठती है।

आजकल हिंदी में कवियों की बाढ़ और कविता का बवंडर आया हुआ है; लेकिन कितने ऐसे हैं जो किसी आदर्श के पूजक हैं, जिनके समक्ष कोई लक्ष्य है? कितने ऐसे हैं, जो दर्दे दिल की दास्तान लिखते हैं? कितने ऐसे हैं, जो बकौल इकबाल—

बिस्मल नहीं है तू तो तड़पना छोड़ दे

के कायल हैं?

कवि अलौकिक शक्ति का अन्वेषक होता है। वह लोकोत्तर वायुमंडल में विचरण करता है, ऊँची उड़ान भी भरता है; लेकिन किसलिए? किसी आदर्श की खोज में अथवा कोरे शब्द जाल की उलझन में? वह जगज्जाल और मायिक बंधनों को काटता है, न कि दूसरों को अपने केशपाश में बाँधता है। आदर्श जिसका जीवन है, लक्ष्य उसका प्राण है। कविराज शंकरजी की प्रतिभा आदर्शवाद के गहरे रंग में रँगी हुई थी। उनका रंक अपनी नित नई आपत्तियों से प्रपीड़ित होकर 'रोदन' करता है।—

दुखड़ों की भरमार यहाँ सुखसाज नहीं है,
किसका गोरसभात मुठी-भर नाज नहीं है।
भटके चिथड़े धार खुले पट पास नहीं है।
कुनबे भर में कौन अधीर उदास नहीं है।

शंकरजी लोक-नायक कवि थे। वे जन-साधारण की व्यथा को उन्हीं की वाणी में बोलते थे; उन्हीं-लगती कहते थे।

इसलिए विद्वान् भी उनकी वाणी का आदर करते थे। उनकी उड़ान कष्ट-पीड़ित झोंपड़ों, कराहती हुई बस्तियों, सामाजिक काल कोठरियों, राजनीतिक प्रपंचागारों तक ही सीमित थी। वे अपनी झोंक में अनंत के अर्श-मुअल्ला तक कभी नहीं उड़े। वे अपने हृदय में लोक-पीड़ा की वेदना के लिए जमीन पर चलते थे। हृत्तंत्री के तारों में पड़कर आसमान के चढ़ने के प्रयत्न में वे त्रिशंकु कभी नहीं बने।

वास्तव में शंकरजी के हृदय में देश की सामूहिक अधोगति पर तीक्ष्ण अनुताप था वे तो—

खंजर चले किसी पै, तड़पते हैं हम अमीर ;
सारे जहाँ का दर्द हमारे जिगर में है।

के मूर्तिमान कवि थे।

शंकरजी ने शृंगार रस पर भी अनूठी रचनाएँ की हैं। नख-शिख वर्णन की जिन लोगों ने उनकी कविताएँ सुनी हैं, वे कहते हैं कि जिन शृंगारिक कृतियों को शंकरजी ने अपने हाथों फूँक दिया था, यदि वे आज होतीं, तो देव और पद्माकर को शृंगार-प्रेमी भूल जाते।

सन् १६१३ से पूर्व की बात है। शंकरजी के 'अनुराग-रत्न' को छपाने की तैयारियाँ की जा रही थीं। सामाजिक प्रगति में रुचि रखनेवाले एक स्वतंत्र राजा साहब को इसका पता चला। उनके अमात्य ने संदेश भेजा कि यदि शंकरजी अपनी कृति महाराज को समर्पित कर दें, तो महाराज साहब दो हजार की भेंट के साथ पुस्तक की छपाई का व्यय भी दे देंगे ; लेकिन शंकरजी तो 'अनुराग-रत्न' को अपने अभिन्न मित्र पं० पद्मसिंह शर्मा को समर्पण करने का संकल्प कर चुके थे। अपने निश्चित मार्ग से विचलित कर देनेवाला यह जबरदस्त प्रलोभन था। पं० पद्मसिंहजी ने

स्वयं शंकरजी को यह भेंट स्वीकार कर लेने को प्रेरित किया, उनसे सादर अनुरोध किया; पर शंकरजी टस से मस न हुए। उन्होंने स्पष्ट कह दिया—संपादकजी, मैं आपकी प्रत्येक आज्ञा को शिरोधार्य कर सकता हूँ; लेकिन इस संबंध में—शंकरजी ने हाथ जोड़े—मैं स्पष्ट निवेदन करता हूँ कि आप एक शब्द भी मुझसे न कहें। यह कैसे हो सकता है कि धन के लोभ से मैं अपने हृदय की निधि किसी अपात्र को समर्पित कर दूँ?

अभी कुछ ही वर्ष पूर्व की बात है; एक बड़े देशी नरेश विलायत से पढ़कर देश आए। उनके स्वागत, सत्कार और गद्दी-नशीनी के उपलक्ष्य में विशाल समारोह हुआ। राज्य के प्रधान-मंत्री के आफिस से शंकरजी महाराज के एक आत्मीय को गुप्त-पत्र लिखा गया कि शंकरजी इस अवसर पर एक रचना लिख दें, तो अन्य लब्धि के अतिरिक्त दो हजार नकद भेंट प्राप्त हो सकती है। शंकरजी ने अस्वीकार कर दिया। फिर पत्र आया, बहुत दिनों तक कई बार आग्रह हुआ; लेकिन शंकरजी ने केवल स्वार्थ के लिए किसी व्यक्ति की मिथ्या प्रशंसा में कुछ भी लिखने से सर्वथा इनकार कर दिया।*

शंकरजी पिंगल के आचार्य थे। अपने काव्य में उन्होंने पिंगल-नियमों का कठोरता-पूर्वक पालन किया है। कई छंदों का तो उन्होंने स्वयं निर्माण कर उनका स्वतंत्र नामकरण भी किया है। वे आशु कवि थे, मिनटों में कविता करते थे; पर इसमें भी उनके इस नियम-पालन में कभी त्रुटि नहीं आई।

उनकी रचना पर उँगली उठाने का आजकल किसी को साहस नहीं हुआ। अलबत्ता जो लोग ब्रजभाषा में कोरे हैं, वे अवश्य

---

* इस संबंध में कविवर का यह सिद्धांत जान पड़ता है—नारकी करैं कविता नर की। संपादक।

शङ्करजी की कविता का पूरा आनद न ले सकने के कारण उनके शब्दों और वाक्यों को अक्खड़ प्रयाग' और ग्रामीण भाव' कह सकते हैं। जो लोग ब्रज की घरेलू भाषा से अभिज्ञ हैं, वे शंकरजी की कविता के जौहर को जान सकते हैं कि उनकी रचनाओं ने वह काम किया है, जिसे पचासों प्रचारक और अनेक अखबार नहीं कर सकते थे। आदर्श और दार्शनिकता का पुट दिए बिना तो उन्होंने अपनी व्यंग्योक्तियाँ भी नहीं लिखीं। शंकरजी के इस समय 'अनुराग रत्न', 'शंकर सरोज', 'वायस विजय' और 'गर्भरंडा रहस्य' चार ग्रंथ प्रकाशित हैं। इनके अतिरिक्त एक विशाल अप्रकाशित राशि प्रकाश में आने की प्रतीक्षा में है।

कविराज शंकरजी पीयूष-पाणि वैद्य थे। यही उनकी जीविका थी; लेकिन वर्तमान युग के अधिकांश वैद्यों की भाँति आपने इस पेशे को येनकेन-प्रकारेण धन-संचय का साधन कभी नहीं बनाया। मैं पहले कह आया हूँ कि कविवर शंकरजी लोकनायक कवि थे। इसी भाँति इस क्षेत्र में भी वे लोक-सेवक वैद्य थे, गरीब-गुरबों और बेकस मरीजों के मसीहा थे। भारत में भला ऐसे रोगियों की क्या कमी, जिनके पास औषधि के पैसे तो क्या, पथ्य के लिए भी कौड़ी नहीं है। शंकरजी मानो ऐसे रोगियों के आत्मीय थे। प्रातःकाल उनके यहाँ रोगियों की भीड़ लग जाती थी। आप पहले गरीब और नातवाँ लोगों को देखते, दवा देते अथवा नुस्खा देने के साथ ही उससे यह भी पूछ लेते कि पथ्य के लिए उसके पास पैसे हैं या नहीं? नुस्खा बहुत सस्ता और सादा होता। अगर रोगी तीन-चार पैसे भी जुटा सकने में असमर्थ होता—और भारत के देहातों में तो ऐसे ही रोगियों की भरमार है—तो आप अपनी गाँठ से उसे औषधि और पथ्य के लिए भी पैसे देते। यहाँ तक कि किसी-किसी रोगी के पास तो शीतादि से बचने का साधन भी न होता, तो आप अपने समर्थ

रोगियों से उसका प्रबंध भी करा देते। आप हरदुआगंज जाइए, स्टेशन से ही गरीब इक्केवाले आदि शंकरजी की सहृदता और दयाद्रता के अनेक व्याख्यान आपको सुनाने शुरू कर देंगे। कविता और साहित्यसेवा को उन्होंने अजीविका का साधन कभी नहीं बनाया।

'सरस्वती' में जब आपकी रचनाएँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रही थीं, तब हिंदी-संसार में एक नवीन स्फूर्ति उत्पन्न हुई। ग्रियर्सन साहब शंकरजी की रचनाओं को बड़ी रुचि से पढ़ा करते थे। 'सरस्वती' के अतिरिक्त अनेक पत्र-पत्रिकाओं मे शंकरजी लिखते रहे।

कवि शंकरजी आदर्श और सिद्धांत के पक्के पुजारी थे। एक बार एक नरेश ने बड़े आग्रह से उन्हें राजधानी में बुलाया था। कई दिनों तक महाराज के साथ काव्य-चर्चा रही। अंत में महाराज ने अपना मंतव्य प्रकट किया कि शंकरजी उनके लिए काव्य में श्रीकृष्ण चरित्र लिख दें। आपने स्पष्ट कह दिया कि मैं तो गीता के कृष्ण का उपासक हूँ, श्रीमद्भागवत के कन्हैया का नहीं। अपने कृष्ण का दिग्दर्शन मैं करा सकता हूँ। सिद्धांत-विषय में कोई समझौता न हो सका, पुष्कल पुरस्कार की आपने परवा न की।

महात्मा गाँधी ने 'यंग इंडिया' में स्वामी दयानंद सरस्वती को 'असहिष्णु' लिख दिया। शंकरजी को यह असह्य हुआ। उन्होंने इस पर एक कटूक्ति लिखी। आर्य समाजी इससे प्रसन्न हुए, राष्ट्रवादियों को व्यथा हुई; लेकिन इस प्रसंग के कई वर्ष उपरांत महात्माजी जब हरदुआगंज पहुँचे तो सबसे पूर्व शंकरजी ने उनके चरणों में अपना मस्तक नत किया, स्वागत में कविता पढ़ी, चंदा इकट्ठा किया और महात्माजी को थैली भेंट की। वे ऐसे दृढ़ राष्ट्रवादी और उदारमना थे।

कविजी ओजपूर्ण पुरातनवाद के प्रचारक थे। नई रोशनी और वर्तमान युग की 'नवीनता' के विरोधी थे। पाश्चात्य सभ्यता के जिन पापों का प्रवेश धीरे-धीरे हमारे राष्ट्र के रुधिर में होता जा रहा है, उससे बचते रहने की उन्होंने अपने काव्य में पग-पग पर चेतावनी दी है। शंकरजी का वास्तविक जौहर तो तब खुलेगा जब हमारे समक्ष उनकी अप्रकाशित रचनाएँ आयँगी। उनका राज-नीतिक दृष्टि-विंदु भी बहुत ऊँचा था। दुख है कि इन थोड़े से दिनों में कई प्राचीनता-पोषक विभूतियाँ हमारे बीच से विलुप्त हो गईं!

—मंगलदेव शर्मा

पंडित पद्मसिंह शर्मा

नाम से तो मैं शर्माजी को सन् १९०६ से ही जानता था, पर मुझे उनके दर्शन का सौभाग्य पहले-पहल सन् १९१४ में महाविद्यालय ज्वालापुर के उत्सव के अवसर पर प्राप्त हुआ था। मुझे ऐसा स्मरण होता है कि शर्माजी उस समय महाविद्यालय के बाग में एक कुटी में रहते थे। उस समय वे मुझसे ऐसे मिले, जैसे बहुत दिन के मिलनेवाले हों, और इसमें संदेह नहीं कि हम दोनों पत्र-व्यवहार के द्वारा इसके कई वर्ष पहले से मिलते रहते थे। पूना में, मैं जब 'चित्रमय जगत' का संपादक था, तब आप कृपा करके मेरे पत्र के लिए कभी-कभी लेख भेजा करते थे। फिर मैं जब सन् १९१३ में 'आर्यमित्र' का संपादक होकर आगरे आया तब भी आपसे मेरा पत्र-व्यवहार प्रायः हुआ करता था; इसलिए प्रत्यक्ष दर्शन के अतिरिक्त हम दोनों में हार्दिक प्रेम पहले से ही था। शर्माजी साक्षात् प्रेम की मूर्ति थे। उनका प्रेम बहुत ही व्यापक था। किंबहुना यदि उन्हें विश्व-कुटुंबी कहा जाय तो कोई अति-शयोक्ति न होगी।

महाविद्यालय में, मैं जब आपकी कुटी में मिला तो उस समय

ी प्रिय संगिनी 'चाय' तैयार थी शर्माजी
स भर चाय मुझे दी। मैं चाय का नियमित
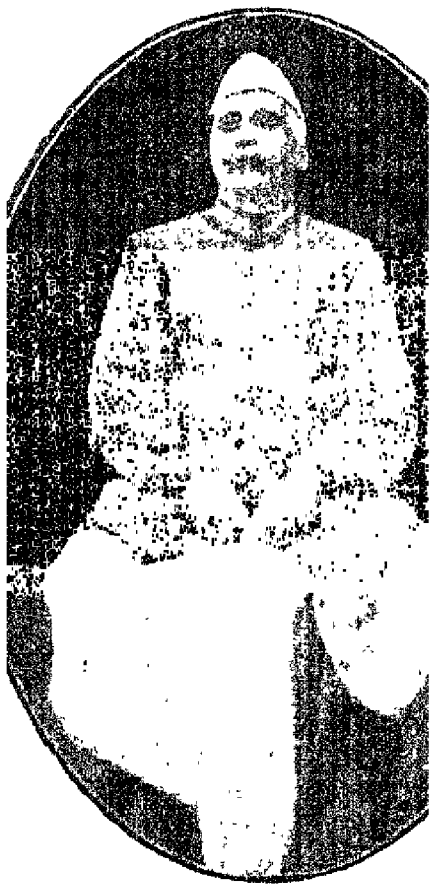
पंडित पद्मसिंह शर्मा

वाला कभी नहीं था ; परंतु दक्षिण में नौ-दस
' मुझे अपने दक्षिणी मित्रों के यहाँ अक्सर

मौका आता था, और शर्माजी की वह चाय पीने के बाद भी मैंने कई बार चाय पी होगी, पर शर्माजी की उस चाय में मुझे जो रस आया, वह न पहले कभी आया था, न कभी बाद को। आपकी वह चाय बादशाही चाय थी, जो आपके प्रेम से पूर्णतया अभि-मंत्रित थी।

शर्माजी साहित्य-रस के पूर्ण अवतार थे। आपके प्रत्येक श्वास-प्रश्वास से ही साहित्य-सुरभि निकला करती थी। मामूली-से-मामूली बात हो, उसमें भी काव्य और साहित्य-रस की भावना रहती थी। संसार में प्रायः देखा गया है कि यदि किसी को हृदय मिला है तो उसमें मस्तिष्क नहीं, और जो मस्तिष्क में प्रतिभा है तो हृदय नहीं दिखाई देता; पर शर्माजी को भगवान् ने मस्तिष्क और हृदय, दिल और दिमाग दोनों दिए थे। स्मृति और मेधा शक्ति मस्तिष्क की चीजें हैं, और सरलता, सौम्यता, सहृदयता तथा व्यापक प्रेम हृदय की। पांडित्य के साथ-साथ निरभिमानता और नम्रता शर्माजी के खास गुण थे। उनके रहन-सहन और सरल स्वभाव को देखकर कोई यह नहीं कह सकता था कि इतनी तेजोमय प्रतिभा इनके अंदर मौजूद है।

शर्माजी की प्रतिभा के विकास का रहस्य उनकी अध्ययन शीलता में ही था। साहित्य के अनुशीलन के सामने संसार का कोई प्रिय-से-प्रिय विषय भी उनको प्रिय नहीं मालूम होता था। एकांत अध्ययन में जिस प्रकार वे तल्लीन होकर समाधि-सुख या ब्रह्मानंद का अनुभव करते थे, उसी प्रकार साहित्यिक मित्रों में बैठकर साहित्य-चर्चा करते हुए भी अपने आपको बिल्कुल भूल जाते थे। उनके जीवन का सबसे प्रिय विषय यही था। इसके पीछे वे अपने घरबार तक को भूले हुए थे—साहित्य का अनु-शीलन ही उनका सर्वस्व था।

साहित्य के अखंड और विस्तृत अध्ययन से उनकी विवेचना-शक्ति ऐसी तीव्र और पैनी हो गई थी कि काव्य और साहित्य की बारीकियों को वे तुरंत ग्रहण कर लेते थे। वे सौंदर्य के उपासक थे, परंतु सांसारिक सौंदर्य में उनको आनंद नहीं आता था। साधारण वार्तालाप में अथवा पुस्तक पढ़ते समय ही वे सौंदर्य की खोज में रहते थे। जहाँ उनको कहीं साहित्य का सच्चा स्वरूप 'सत्यं-शिवं-सुंदरं' मिल जाता था वहीं उनका मन-मयूर मस्त होकर आनंद से नृत्य करने लगता था। वे निर्जीव पुस्तकों के साथ तल्लीन होकर मानों उनके कर्त्ताओं से सजीव रूप में साहित्य-चर्चा, अपने अंतःकरण में ही किया करते थे। सजीव प्राणियों में भी वे उसी दिव्य सौंदर्य की शोध में रहा करते थे। फलतः चाहे गद्य लेखक हो, अथवा पद्य लेखक जो उनकी निगाह में गड़ जाता था और जिसके विषय में वे समझते थे कि इसके सत्संग से उनको कुछ साहित्य का आनंद मिलेगा, उसकी सेवा में जाकर वे स्वयं उपस्थित होते थे। यह उनका एक प्रिय विषय बन गया था। जिस जगह उनको काव्य का अलौकिक आनंद प्राप्त होता था, वहाँ जरासा भी अवकाश मिलते ही बार-बार दौड़े जाते थे। हिंदी कवियों में इस समय पं० नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर' के वे विशेष चाहक थे। उनके ग्राम में बार-बार जाकर शंकरजी और उनके परिवार से ऐसा नेह-नाता जोड़ा कि अपने कुटुंब से भी विशेष। भोले शंकरजी ने सनक में आकर अपनी सब शृंगारिक कविता अग्निदेव को समर्पित कर दी थी। उनमें से कुछ कवित्त जब शंकरजी ने शर्माजी को सुनाए तो उन्हें उनकी सनक पर बहुत खेद हुआ और बार-बार शंकरजी की सेवा में जाकर शर्माजी ने उनकी कुछ पुरानी कविता का संग्रह किया जो शंकरजी को कंठाग्र थी। शंकरजी की समग्र उपलब्ध कविता का संपादन करने की उनको बड़ी लालसा थी।

उर्दू के कवियों में वे अकबर की कविता के बड़े भक्त थे। यहाँ तक कि अकबर का नाम हिंदी-संसार में आज जो इतना प्रसिद्ध हो रहा है उसका एकमात्र श्रेय स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा को ही है। अकबर ने भी जान लिया था कि शर्माजी क्या चीज हैं और इसीलिए शर्माजी को उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा था—

× × अगरचे जाहिरी इंतिजामे-फितरत ने मुझको आपको अलहदा-अलहदा हलकों में जगह दी है, लेकिन आप तो मेरे दिल के साथ हैं, और ऐसे बहुत कम हैं और जो हैं, सब एक हैं।

इससे यह मालूम हो जाता है कि पं० पद्मसिंह शर्मा सत्कवियों की आत्मा में अपनी आत्मा कैसे डाल देते थे। आजकल जब कि इस विज्ञापन के युग में अपनी ही अपनी प्रसिद्धि के विज्ञापन का बाजार गर्म है, काव्य और साहित्य के सच्चे पारखियों का पूर्ण अभाव है, शर्माजी ही एक थे जो दूसरे की रचना सुनकर आनंद में डोलने लगते थे। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—अपना 'कवित्त' किसको नहीं अच्छा लगता। चाहे सरस हो चाहे नीरस—अपने की तो सभी दाद दे देते हैं, पर जो दूसरे की 'भणिति'—कही हुई—सुनकर हर्षित हों, ऐसे नर-श्रेष्ठ इस संसार में थोड़े हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा ऐसे ही थोड़े पुरुष-श्रेष्ठों में थे।

शर्माजी में एक बात और भी थी; जहाँ वे दूसरे की सुंदर कविता सुनकर प्रसन्न होते थे, वहाँ बुरी रचना से चाहे उनको दुख न होता हो, पर उनका हृदय इतना कोमल था कि उनको उससे उद्वेग अवश्य होता था। 'सतसई-संहार' उनके इसी उद्वेग का परिणाम था। आजकल हिंदी कविता की धारा जिस ओर बड़े जोर से प्रवाहित हो रही है, उसको देखकर भी उनका मन बहुत उद्विग्न होता था, और वे कहते थे कि इस धारा का यदि

उतने ही जोर से अवरोध न किया जायगा तो इससे हिंदी संसार की बड़ी हानि होगी। आजकल की अधिकांश छायावादी कविता के जिसमें तुलसी की यह उक्ति चरितार्थ होती है कि 'अनमिल अक्षर अर्थ न जापू' शर्माजी सख्त विरोधी थे। आजकल के कवि सम्मेलनों में भी शर्माजी प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित नहीं होते थे। मित्रों के अनुरोध से चले जायँ यह दूसरी बात है, पर वहाँ बैठकर उनका हृदय-कमल खिलता नहीं था। वहाँ किसी उद्वेग कारक कविता को सुनकर शिष्टाचारवश चाहे खुले तौर पर उसका विरोध न करें, पर अपना छोटा-सा कोई व्यंग्य-वाक्य कह कर एक उदासीनतापूर्ण अपनी ऊपर-ऊपर की हँसी हँस देते थे। उनका हृदय नहीं हँसता था, सिर्फ मित्रों को प्रसन्न करने के लिए सब के साथ वे भी हँसते थे।

अशिव और असुंदर साहित्य से वे बड़े घबड़ाते थे। साधारण वार्तालाप में तो उसका विरोध करते ही थे, पर कभी-कभी अपनी व्यंग्य पूर्ण लेखनी भी उस पर चला देते थे। चाहे साहित्य-संसार का अन्याय हो और चाहे अपने घनिष्ट मित्रों, प्रेमियों और संबंधियों का अन्याय हो, जब उनके कोमल हृदय को सह्य नहीं होता था, तब उसको अपनी लेखनी अथवा वाणी द्वारा वे अवश्य अपने हृदय से निकाल कर पुनः हृदय को हल्का कर लेते थे। लोग भ्रम से समझ लेते थे कि इस विषय में उनको द्वेष या मत्सर होगा, पर शर्माजी का हृदय इतना विशाल और ऊँचा था कि वे इन सब बातों से बहुत परे थे। विद्वत्ता के साथ सज्जनता और नम्रता इतनी और कहीं नहीं देखी गई।

शर्माजी एक उत्तम दर्जे के कवि थे, और वे जो कुछ वाणी से बोलते अथवा लेखनी से लिखते थे, उसमें कविता रहती थी। जहाँ तक हमको मालूम है शर्माजी ने तुकबंदी पद्य शायद कभी

नहीं लिखा—जो कुछ उन्होंने कहा और लिखा है, सब गद्य में ही। परंतु उनके उस गद्य में बड़े-बड़े कवियों के पद्य से भी अधिक रस है। उनके गद्य में वह तेज, ओज, रस-अलंकारों के साथ मौजूद है, जो बड़े-बड़े कवियों की कविता में नहीं है। जिसको आजकल के नवयुवक 'चुलबुलाहट' कहते हैं, जिससे हृदय में रस संचार होता है और अंग-अंग में रोमांच होकर एक प्रकार की स्फूर्ति आती है, वह शर्माजी के गद्य में है। इसीलिए उनके गद्य में वह मजा आता है जो बड़े-बड़े कवियों के पद्य में नहीं आता। शर्माजी ने अपने गद्य को कविता की ही तरह अपने एक निराले रंग-ढंग पर ढाला है। बीच-बीच में उर्दू, फारसी, संस्कृत और कभी-कभी हिंदी के कवियों की सूक्तियाँ रखकर उसमें और भी चार चाँद लगा दिये हैं। भाषा और शब्दों पर उनका पूर्ण आधिपत्य था। व्यंग्य और ओज-भरी भाषा लिखने में वे एक ही थे।

शर्माजी ने अपने जीवन में बड़े-बड़े थोथे-पोथे नहीं लिखे। एक पुस्तक बिहारी की सतसई का "संजीवन भाष्य" लिखना शुरू किया, वह भी पूरा नहीं हो सका। उन्होंने वास्तव में बहुत थोड़ा लिखा; परंतु जो लिखा उतने से ही आप अमर हो गए। इसमें क्या रहस्य है? यही कि वे जो कुछ लिखते थे, पूर्ण अनुभूति के साथ लिखते थे। 'काता और ले दौड़ी' का मसला उन्हें बहुत नापसंद था। उनके बोल अनुभव के बोल हैं, इसीलिए वे बहुमूल्य हैं—अनमोल हैं। उन्होंने साहित्यिक जीवन के आरंभ मे—जब उन्हें कोई जानता भी नहीं था—स्वाध्याय के 'वाङ्मय तप' से अपनी आत्मा को चमत्कृत किया था, और तब सच्ची अनुभूति के साथ उन्होंने जो कुछ लिखा उससे हिंदी-साहित्य में चमत्कार उत्पन्न हुआ है।

वास्तव में देखा जाय तो शर्माजी अपना लेख अखबारों में

सिर्फ छपाने के उद्देश्य से ही नहीं लिखते थे, बल्कि जब हृदय में कुछ अनुभव करते थे, तब लिख डालते थे। इसलिए उनके लेख उनके हृदय के टुकड़े होते थे। 'पद्म-पराग' की जीवनी में उन्होंने स्वयं अपनी काव्यमयी भाषा में लिखा है—

× × इस समय जी ठिकाने नहीं है। दिल के टुकड़े, जिगर के तारे जुदा हो रहे हैं। इनके आने से पहले का और चले जाने से बाद का नक्शा आँखों के सामने है।

वक्त मुझ पर दो कठिन गुजरे हैं सारी उम्र में;
उनके आजाने से पहले और चले जाने के बाद।

जो मुद्दत से छिपे पड़े थे, अब छपकर बाहर निकल रहे हैं। बहुत छिपाया पर ग्राहकों ने जबरदस्ती छीन ही लिया, कागजों के कोने से खींच कर नुमाइश के बाजार में ले ही आए।

जिस 'नुमाइश के बाजार' में अपने रद्दी लेखों की दूकान सजाने में आजकल बहुत से लेखक तरसते हैं, उससे शर्माजी बहुत डरते थे। आपकी राय थी कि चमकने का—नुमायाँ होकर निकलने का—चाव सौ आफतों में फँसाता है, और इसीलिए शर्माजी अपने लेखों को संबोधित करके फिर लिखते हैं—

क्या पड़ा था, जो यों प्रकाश में—प्रकाशित होकर—निकल पड़े! मेरे थे, मेरे पास पड़े रहते। मैंने बहुत छिपाया, बहुत बचाया, पर न बच सके?

बड़ी आरजुओं से—मिन्नतों से बुलाया था, न जाने तुम्हारी आराधना में कितनी रातों को दिन और कितने दिनों को रात करके तुम्हारे दर्शन नसीब हुए थे—दिल का खून सुखा-सुखाकर आँखों के रहट से सींच-सींच कर तुम्हें हरा-भरा किया था। अब जुदा हो रहे हो, इतने दिनों का साथ छोड़ रहे हो—किस दिल से कहूँ और कैसे कहूँ कि जाओ।

इस पिछले पैराग्राफ में शर्माजी के लेखों की आत्म-कथा के साथ-साथ उनकी निज की आत्म-कथा की भी पूरी-पूरी झलक मिलती है। उनके लेख उनके 'आत्मज' की भाँति उत्पन्न हुए थे और उसी प्रेम से उन्होंने कष्ट कर और पोषित करके उनको जनता के सामने बड़े संकोच से रखा है। यही उनका स्वाध्याय रूपी वाङ्मय तप है।

शर्माजी एक प्रकार के साहित्यिक ऋषि थे। हिंदी में तुलनात्मक अध्ययन की परिपाटी उन्होंने चलाई। इसलिए अब जो शर्माजी के प्रेमी भक्त और मित्र हैं उनका कर्त्तव्य है कि उनकी चलाई हुई तुलनात्मक अध्ययन प्रणाली को एक स्कूल के रूप में परिणत करें। यदि ऐसे अध्ययन करने वालों का एक स्कूल खुल जाय, तो शर्मा जी की यादगार चिरस्थायी हो सकती है। हिंदी-संसार में तो विद्वानों की कमी नहीं है, सभी अपने-अपने विषय के सम्राट हैं, पर यदि कुछ कमी है तो 'गंभीर अध्ययन' की ही। विश्वास है कि यदि हमारे उत्साही नवयुवकगण, शर्माजी का आदर्श रखकर इस वाङ्मय तप में लगेंगे तो ऋषि-ऋण से अवश्य उद्धार होंगे।

—लक्ष्मीधर वाजपेयी

श्री प्रेमचंदजी

सन् १९३१ नवम्बर की २१ वीं तारीख। शाम का वक्त, साढ़े छः बजे पश्चिम से आने वाली एक्सप्रेस पटना जँकशन पर अभी लगी हुई थी। प्रेमचंद जी आज पटना आने वाले थे, और उन्हीं के स्वागत के लिए हम लोग स्टेशन पहुँचे हुए थे; परंतु हम में से किसी ने उन्हें देखा न था; इसलिए बड़ी चिंता थी, उन्हें कैसे पहचाना जायगा। 'हिंदी भाषा और साहित्य' का प्रथम संस्करण हाल में ही निकला था। उसमें प्रेमचंद जी की एक तसवीर थी। चौड़ा, गोल मुँह, उभरा हुआ ललाट, धनुषाकार बड़ी मूँछें। पोशाक भी सोफयाना थी। फ्लैलेन का पैंट, मफलर और कोट। इसी तसवीर को लेकर हम लोग स्टेशन पर आए थे। प्रेमचंदजी जैसे महान कलाकार की रूप-रेखा हमारे मन में इससे कहीं अधिक भड़कदार और रोबीली थी।

रेलगाड़ी आई और सेकेंड क्लास, इंटर, फर्स्टक्लास के सभी डब्बे हम लोगों ने देख लिए, पर हमारे अनुमान का कोई आदमी नजर नहीं आया। तब थर्ड क्लास की बारी आई। गाड़ी का डब्बा-डब्बा हम लोगों ने छान डाला; पर मुसाफिरों में कोई हिंदी का औपन्यासिक सम्राट् न निकला।

रेलवे मेल-सर्विस के ऑफिस के पास अचानक उसी शक्ल और पोशाक का एक मुसाफिर दीख पड़ा। हम लोग दौड़कर उसके पास जा पहुँचे। क्यों जनाब आप लखनऊ से आ रहे हैं?

नहीं तो?

हमारे बेतुके प्रश्न पर वह झुँझला से पड़े और हम लोग अपनी झेंप मिटाने के लिए मुसाफिरों की जमात में जल्दी से मिल गए।

और वह सज्जन प्लेट फार्म पार करके रेलवे लाइन की बगल-बगल सीधे जाने लगे। थोड़ा-सा सफरी सामान था जो एक कुली के सिर पर था।

गाड़ी जब चली गई तब हम लोगों ने सोचा, उनसे यह तो पूछा ही न था कि आप प्रेमचंद हैं? मुमकिन है, प्रेमचंदजी लखनऊ से न होकर बनारस से आ रहे हों।

हम लोग फिर दौड़ पड़े, और गुमटी के पास जाकर उन्हें रोका—क्यों जनाब, आप बनारस से आ रहे हैं?

अबकी वह हँस पड़े। उन्होंने पूछा—आखिर बात क्या है?

प्रेमचंदजी इसी गाड़ी से आने वाले थे और उनका चेहरा आपसे मिलता-जुलता-सा है। क्षमा कीजिएगा।

मैं प्रेमचंद नहीं हूँ।

और वह चल पड़े।

× × ×

दो घंटे के बाद पंजाबमेल आई। इस बार भी हम लोगों ने बड़ी तत्परता के साथ खोज की। तीन-चार साहब उतरे, दो एक हिंदुस्तानी भी—मतलब, हिंदुस्तानी लिबास वाले, पर उनमें से

कोई हमारी कल्पना का, हमारी किताब की तस्वीर का प्रेमचंद न निकला।

सभी मित्र हताश और निरुत्साह घर लौट चले। मेरी आँखों

श्री प्रेमचंदजी

तले अँधेरा छा गया। पटना-हिंदी-साहित्य-परिषद का मंत्री मैं था। मेरे ही निमंत्रण पर प्रेमचंदजी आने वाले थे। शहर में